प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२७

मूल्य : ३-५०

Library IIAS, Shimla
PH 294 M 68 V
00039945

PH 294 M68 V

© चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ६३०७६

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 39945
Date 24.6.72
SIMLA

27.12.81

प्रधान कार्यालय :

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स ८, वाराणसी-१

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
157
*****

VEDA-SAÑCHAYANA

(A Collection of Vedic Hymns)

Edited and Translated

by

DR. YADUNANDANA MIŚRA, M. A., Ph. D.,

Head of the Department of Sanskrit

B. R. D. Degree College, Deoria (U. P.)

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1970

विषय-सूची

		पृष्ठ
१. समर्पण	...	५
२. आत्म-निवेदन	...	७
३. भूमिका	...	९–४६
वैदिक साहित्य-परिचय	...	९
ऋग्वेद-परिचय	...	१४
अथर्ववेद-परिचय	...	१९
देवताओं का स्वरूप	...	२१
अग्नि	...	२१
विष्णु	...	२५
इन्द्र	...	२९
पुरुष	...	३५
प्रजापति	...	३८
वाक्	...	४०
पृथिवी	...	४२
४. संकेत-लिपि	...	४७
५. व्याख्या-भाग	...	१–१३१
अग्नि-सूक्तम् (ऋग्० १।१)	...	१
विष्णुसूक्तम् (ऋग्० १।१५४)	...	२१
इन्द्रसूक्तम् (ऋग्० २।१२)	...	३३
पुरुषसूक्तम् (ऋग्० १०।९०)	...	५८
प्रजापतिसूक्तम् (ऋग् १०।१२१)	...	८२
वाक्सूक्तम् (ऋग्० १०।१२५)	...	१०४
पृथिवीसूक्तम् (अथर्व० १२।१)	...	१२०
६. वेदमन्त्रानुक्रमणिका	...	१३२

ममतामयी

माँ

को,

जिसकी स्मृति

ही

अब मेरी प्रेरणा

है

आत्म-निवेदन

गोरखपुर विश्वविद्यालय के बी० ए० (संस्कृत) द्वितीय वर्ष के विद्यार्थियों के लिये निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार वेद की यह पाठ्यपुस्तक तैयार की गई है। वेद-मंत्रों की व्याख्या में यहाँ सर्वथा मौलिकता का उद्घोष तो नहीं किया जा सकता, किन्तु इतना अवश्य है कि अनेक वेदविद् जनों की व्याख्या-पद्धतियों का औचित्यमात्र से अनुप्राणित आश्रय लेकर यथामति एक स्वतंत्र हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। साथ ही अन्य व्याख्याताओं के मत-मतान्तरों को भी टिप्पणियों में निर्दिष्ट किया गया है। परीक्षा की दृष्टि से उपयोगी व्याकरण-सम्बन्धी टिप्पणियाँ भी यथास्थान दे दी गई हैं।

भूमिका में वैदिक वाङ्मय का अतिसूक्ष्म परिचय देकर फिर 'ऋग्वेद' और 'अथर्ववेद' का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। परीक्षा में आवश्यक रूप से कुछ देवताओं के स्वरूप-सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते हैं। इस लिये निर्धारित सभी देवताओं का स्वरूप-चित्रण भी भूमिका में किया गया है।

इस प्रकार यदि यह पुस्तक विद्यार्थियों के काठिन्य-परिहार में अंशतः भी सफल हुई, तो मैं अपने श्रम को सार्थक मानूँगा। विज्ञ पाठक यदि इसमें दोषान्वेषण करें तो उससे अवगत करा कर मुझे उपकृत करें, यह मेरी विनम्र प्रार्थना है।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी के स्वत्वाधिकारी एवं संचालक गुप्त बन्धुओं का मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा के विना यह पुस्तक अलिखित ही रहती। साथ ही उन अनेक वेदव्याख्याताओं का भी मैं आभार स्वीकारता हूँ, जिनके विचार-रत्नों को यथासामर्थ्य इस पुस्तक में सँजोने का मैंने प्रयास किया है।

श्रीकृष्णजन्माष्टमी
वि० सं० २०२७

यदुनन्दन मिश्र

भूमिका

वैदिक साहित्य-परिचय

ज्ञानराशि के पर्यायभूत, 'विद् ज्ञाने' धातु से व्युत्पन्न 'वेद' शब्द को महर्षि आपस्तम्ब ने इस प्रकार परिभाषित किया है—

"मंत्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"[1]।

संहिता में प्रयुक्त पद्य या गद्य को 'मंत्र' तथा उन मंत्रों का व्याख्यान प्रस्तुत करने वाले ग्रंथों को 'ब्राह्मण' कहते हैं।

मोटे तौर पर वैदिक साहित्य में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् तथा वेदांगों का समावेश स्वीकार किया जा सकता है।

संहिता-साहित्य—संहितायें चार हैं—

१. **ऋग्वेद संहिता**—इसमें १० मण्डल, १०२८ सूक्त तथा १०६०० मंत्र हैं। इसकी २१ शाखाओं में से आज केवल एक शाकल्य संहिता उपलब्ध है। इसके मंत्रों को 'ऋचा' एवं उनके उच्चारण के अधिकारी पुरोहित को **'होता'** कहते हैं। इसमें विशुद्धरूपेण देवस्तुतियाँ संकलित हैं।

२. **सामवेद संहिता**—१००० शाखाओं में से इसकी आज कौथुमीय, जैमिनीय और राणायनीय ये तीन शाखायें मात्र उपलब्ध हैं। यह 'पूर्वाचिक' और 'उत्तराचिक' इन दो भागों में विभक्त है। पूर्वाचिक में छः तथा उत्तराचिक में नौ प्रपाठक हैं। सामवेद में कुल १५४९ मंत्र हैं, जिनमें से ७८ को छोड़ कर शेष सभी ऋग्वेद से गृहीत हैं। इसके मंत्र गेय हैं, जिन्हें 'सामन्' कहते हैं। इन मत्रों के गायक पुरोहित को **'उद्गाता'** कहा जाता है।

३. **यजुर्वेद संहिता**—इसकी १०० शाखाओं में से आज ६ प्राप्त हैं। यह दो भागों में विभक्त है—(क) **कृष्ण यजुर्वेद**—जिससे तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी और कपिष्ठल शाखायें सम्बद्ध हैं। (ख) **शुक्ल यजुर्वेद**—जिससे माध्यन्दिन **वाजसनेय** एवं काण्व शाखाओं का सम्बन्ध है। कृष्ण यजुर्वेद सात 'काण्डों' में तथा शुक्ल यजुर्वेद चालीस 'अध्यायों' में विभक्त है। यजुर्वेद 'अध्वर्यु' संज्ञक पुरोहितों की प्रार्थना-पुस्तक है, जिसमें पद्यमय मंत्रों के अतिरिक्त गद्य के स्थल भी हैं। इन्हे 'यजुष्'[2] कहते हैं।

१. परिभाषा सूत्रम् १।३३

२. 'गद्यात्मको यजुः' अथवा 'अनियताक्षरावसानो यजुः'।

४. **अथर्ववेद संहिता**—इसकी नौ शाखाओं में से दो ही उपलब्ध हैं—शौनक और पैप्पलाद। इसमें २० काण्ड, ७३१ सूक्त और ५८३९ मंत्र हैं, जिनमें से १८०० मन्त्र ऋग्वेद से गृहीत हैं। इन मंत्रों को **'छन्दस्'** कहते हैं। इसमें जादू, टोने एवं अन्य विविध विषय समाविष्ट हैं।

ब्राह्मण साहित्य—पुरोहितों द्वारा किये गये यज्ञों में प्रयुक्त संहितानुमोदित विधियों की व्याख्याओं के संकलन का नाम ही 'ब्राह्मण' है। ब्राह्मण ग्रंथ अधिकतर यज्ञों की ही विवेचना, उनकी विधियों का निर्देश, याज्ञिक कर्मों का परस्पर सम्बन्ध तथा उनकी प्रार्थनाओं और मन्त्रों से सम्बन्ध आदि बतलाते हैं। इसके साथ ही इसमें उत्सवों के लाक्षणिक अर्थ तथा उनके साथ मन्त्र और प्रार्थनादि का सम्बन्ध बतलाया गया है। यह बात कहीं नहीं भुलाई गई है कि किस याज्ञिक कर्म में पुरोहित को कितनी दक्षिणा दी जाय। इसमें यज्ञकर्ता को इहलोक और परलोक में मिलने वाले लाभों का भी उल्लेख है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'ब्राह्मण' 'यज्ञों का विज्ञान' है। प्रायः प्रत्येक 'ब्राह्मण' का पूर्वोक्त किसी न किसी संहिता से सम्बन्ध है। सर्वाधिक प्रसिद्ध ब्राह्मण ग्रंथ—शतपथ ब्राह्मण (शुक्ल यजु०), गोपथब्राह्मण (अथर्व०), ऐतरेय ब्राह्मण (ऋग्०) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (कृष्ण यजु०) हैं।

आरण्यक साहित्य—ब्राह्मण ग्रंथों में या उनके परिशिष्टों में हमें 'आरण्यकों' के दर्शन होते हैं। सर्वश्राव्य न होने, रहस्यमय अथवा अश्लील होने तथा विकृत अथवा दीर्घस्वर युक्त होने से जिन मंत्रों का पाठ आदि निर्जन अरण्यों में किया जाय, उनके संकलन का नाम ही 'आरण्यक'[1] है। मुख्य आरण्यक—ऐतरेय आ०, कौषीतकि आ०, शांख्यायन आ०, तलवकार आ० और बृहदारण्यक हैं।

उपनिषद् साहित्य—कुछ पुरातन उपनिषदों का समावेश तो तन्नामधारी आरण्यकों में ही हो जाता है और कुछ उनके परिशिष्ट अंश का काम करते हैं। इस प्रकार आरण्यकों और उपनिषदों के मध्य भेद-रेखा खींचना कठिन काम है। वैसे हम कह सकते हैं कि उपनिषदों में 'ब्राह्मणों' के 'ज्ञानकाण्ड' का प्रतिपादन हुआ है। इनका उद्देश्य यज्ञादिक सम्पादित करके स्वर्गलोक में सुख प्राप्त करना नहीं, अपितु दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करके आत्मा का परमात्मा से एकाकारकरण है। उपनिषदों का महत्व आज किसी से छिपा नहीं है।[2]

१. 'अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते'।

२. शॉपेनहर :—'सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों के समान जीवन को ऊँचा उठाने वाला कोई भी पाठ्य ग्रन्थ नहीं है' तथा—'औपनिषदिक सिद्धान्त एक

वैसे तो २२० उपनिषदों का नामोल्लेख मिलता है, किन्तु मुण्डकोपनिषद् में १०८ उपनिषद् बतलाये गये हैं, जिनमें से ये दश प्रमुख हैं—

'ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश ॥'

उपनिषदों के सिद्धान्तों ने ही 'वेदान्त' को जन्म दिया है। बौद्ध, रामानुज, शांकर और ब्राह्मण सम्प्रदाय उपनिषदों के सिद्धान्तों की मिट्टी से ही प्रादुर्भूत हुये हैं।

वेदाङ्ग साहित्य—वेदांग ६ हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार "छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ॥'

इस प्रकार 'शिक्षा' वेद की नाक, 'कल्प' हाथ, 'व्याकरण' मुख, 'निरुक्त' कान, छन्द' पैर और 'ज्योतिष' नेत्र है। वेदांगों को भली प्रकार पढ़े बिना वेदाध्ययन अपूर्ण रहता है।

शिक्षा—'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा'। अशुद्ध मंत्रोच्चारण से यज्ञादि की फल-प्राप्ति तो होती ही न थी, प्रत्युत हानि की भी सम्भावना रहा करती थी। इसलिये उच्चारण की शुद्धता के लिए इस वेदांग की रचना हुई। वेदों के संहिता पाठ, पद पाठ, जटा पाठ, घन पाठ, और विरल पाठ का आयोजन 'शिक्षा' का ही कार्य है। शिक्षाशास्त्र के ग्रन्थों को 'प्रातिशाख्य' कह सकते हैं।

कल्प—'कल्प्यन्ते समर्थ्यन्ते यज्ञयागादि-प्रयोगाः यत्र' अथवा 'कर्मकाण्ड-प्रतिपादकाः ग्रंथाः कल्पसूत्राख्या भवन्तिः'। इस कल्पसाहित्य को 'सूत्रसाहित्य' भी कहते हैं, जिसके चार भाग हैं :—

(क) **श्रौतसूत्र**—'तत्र वेदविहितश्रुतिप्रतिपादितयज्ञयागादिविधानतद्विवरणप्रतिपादकाः ग्रंथाः श्रुतिमूलकत्वात् श्रौतसूत्राणि परिभाष्यन्ते'। इनमें बड़े-बड़े यज्ञ, हवन और बलिदानों के नियम और विधियाँ वर्णित हैं, यथा—अग्निहोत्र, पौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयज्ञ आदि।

प्रकार से अपौरुषेय हैं। जिनके मस्तिष्क की ये उपज हैं, उन्हें मनुष्य कहना कठिन है।'

फ्रेडरिक श्लेगेल:—'उपनिषदों के सामने यूरोपीय तत्वज्ञान प्रचण्ड मार्तण्ड के सामने टिमटिमाता हुआ दीपक है'।

(ख) **गृह्यसूत्र**—'गृहिणां जन्मप्रभृतिमृत्युपर्यन्ता ये संस्कारादयः येषु विव्रियन्ते तानि गृह्यसूत्राणि परिभाष्यन्ते।' इनमें सभी संस्कारों, उत्सवों और यज्ञों की विधि वर्णित है, जिन्हें करके एक भारतीय का जीवन अधिक पवित्र समझा जाता था।

(ग) **धर्मसूत्र**—'येषु पुनः पारमार्थिकाः सामाजिकाः राजनीतिविषयकाश्च धर्मविशेषा उपदिश्यन्ते तानि धर्मसूत्राणि परिभाष्यन्ते।' यहाँ धर्म से तात्पर्य अधिकार, कर्तव्य, नियम, धर्म, रीति और व्यवहार आदि से है। इनमें सामाजिक आचार और कर्तव्याकर्तव्य वर्णित है। आपस्तम्ब, हिरण्यकेशिन्, और बौधायन कृत धर्मसूत्र सर्वाधिक महत्व के हैं। उनसे विषयसाम्य रखने वाले गौतम धर्म०, वाशिष्ठ धर्म०, मानव धर्म० और वैखानस धर्म० भी पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हैं।

(घ) **शुल्बसूत्र**—इनमें यज्ञ-वेदिका आदि की निर्माण-विधि तथा लम्बाई-चौड़ाई आदि का विवरण है। इस प्रकार इन्हें माप-सूत्र कहा जा सकता है। इन सूत्रों में प्राचीनतम भारतीय ज्यामिति के दर्शन होते हैं।

व्याकरण—इन ग्रन्थों में भाषा की शुद्धाशुद्धि का विवेचन है। वैसे तो वेदांगव्याकरण के ग्रंथ सर्वथा अप्राप्त हैं, किन्तु उनके अस्तित्व का प्रमाण पाणिनि के पूर्व अनेक व्याकरणों के नामोल्लेख से मिल जाता है।

देखिये—

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्॥'

हमें विदित है कि पदपाठ-कर्ताओं ने न केवल 'उच्चारण' और 'सन्धि' सम्बन्धी खोजें कीं, अपितु उन्होंने शब्दों की व्याकरण-सम्बन्धी व्याख्या का भी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यास्क ने ४ पदजातानि (Parts of Speech) का उल्लेख तो क्या, उनका विवेचन भी किया है—दे०—नामन् (= Noun), आख्यात (= Verb), उपसर्ग (= Preposition) और निपात (= Participle)। यास्क के पूर्व भी व्याकरण का अस्तित्व था; क्योंकि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती शाकटायन, गार्ग्य और शाकल्य आदि २० वैयाकरणों के नाम गिनाये हैं। उन्हें शब्द के 'धातु' और 'प्रत्यय' का पता था। ब्राह्मणों में भी व्याकरण के कुछ पारिभाषिक शब्द मिलते हैं, यथा—'वर्ण' (= Letter) वृषन् (= Masculine) आदि। आरण्यक, उपनिषद् और सूत्रग्रन्थों में तो व्याकरण के इससे भी अधिक उल्लेख मिलते हैं। पाणिनि का व्याकरण ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' भी शाकटायन के 'संज्ञा की क्रियात्मक उत्पत्ति' के सिद्धान्त पर ही

आधारित है और उसमें शताधिक नियम ऐसे हैं जो कि शब्दों के वैदिक रूपों के विषय में ही बनाये गये हैं ।

निरुक्त—इस शास्त्र के मात्र दो ग्रन्थरत्न आज समुपलब्ध हैं—

१. **निघण्टु संग्रह**—यास्क के समय ५ निघण्टु थे—पहले तीन में पर्याय वाची शब्द, चौथे में क्लिष्ट शब्दों का चयन और पाँचवें में वैदिक देवताओं का वर्गीकरण प्राप्त था । निघण्टु-शब्दों की ५ सूचियाँ हैं, जिन्हें तीन भागों में बाँटा गया है—(क) नैघण्टुक काण्ड—देवताओं के नाम संकलित हैं । (ख) नैगमकाण्ड—वेदों के संदिग्ध और कठिन शब्द संगृहीत हैं । (ग) दैवतकाण्ड—देवताओं का वर्गीकरण किया गया है ।

२. **निरुक्त**—इसके १२ अध्यायों में निघण्टु की ही व्याख्या की गई है । उनके उदाहरणों के लिये यास्क ने ऋग्वेद आदि से मंत्र उद्धृत किये तथा व्युत्पत्ति के सहारे अनेक अर्थ प्रस्तुत किये हैं ।

छन्द—इस शास्त्र का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'निदानसूत्र' है, जिसे वेबर महोदय पतंजलिकृत मानते हैं । इसका सम्बन्ध सामवेद से है तथा व्याकरण की दृष्टि से इसका अमित महत्व है । पिंगलाचार्य कृत 'छन्दः सूत्र' ८ भागों में विभक्त है, जिसका ऋग्वेद तथा यजुर्वेद से सम्बन्ध है । इसमें छन्दों को वैदिक और लौकिक दो भागों में बाँटा गया है । शौनकीय प्रातिशाख्य के अन्त में भी छन्दों पर यथेष्ट विचार किया गया है । कात्यायन कृत अनुक्रमणियों में से प्रत्येक में एक भाग ऐसा है, जिसमें वैदिक छन्दों का निरूपण किया गया है ।

ज्योतिष—वेद के प्रधान प्रतिपाद्य यज्ञों से ज्योतिष्शास्त्र का विशिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि यह उनके निमित्त उचित कालादिक का विचार करता है । 'आचार्यज्योतिष्' में कहा गया है कि—'यज्ञ के लिये वेदों का अवतरण हुआ है और काल में उपयुक्त सन्निवेश से यज्ञों का सम्बन्ध है । इसीलिये ज्योतिष को 'कालविधायक शास्त्र' कहा गया है । ज्योतिष जानने वाला ही यज्ञ का ज्ञाता है ।

वैदिक ज्योतिष के प्रधान आचार्य 'लगध' हैं । आपने 'वेदाङ्गज्योतिष्' लिखा है । इस नाम के दो ग्रन्थ हैं—एक ऋग्वेदीय, दूसरा यजुर्वेदीय ।

ज्योतिष के अन्तर्गत अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित आदि को भी माना गया है । यह विद्या विश्व को आर्यों की ही देन है, जिसे कालान्तर में रोमन और ग्रीक लोगो ने सीखा ।

ऋग्वेद–परिचय

यह भारतीय वाङ्मय में और सम्भवतः विश्वसाहित्य में सर्वाधिक पुरातन ग्रन्थ है। जे० वाकरनागेल ने भाषायी शोध के आधार पर सिद्ध किया है कि यह भारोपीय कुल की ग्रीक, लातिन, स्लावी, जर्मन, पारसी और संस्कृत भाषाओं में प्राप्त साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन है।

शाखा—इसका एकमात्र शाखा जो आज उपलब्ध है, उसका सम्बन्ध शाकल्य सम्प्रदाय से है। इसमें १०२८ सूक्त संगृहीत हैं। यह १० मण्डलों में विभक्त है। आकार के आधार पर भी इसे अष्टकों और वर्गों में विभाजित किया गया है।

प्रक्षिप्तांश—मैकडानल प्रभृति विद्वान् इसके द्वितीय से सप्तम मण्डल पर्यन्त अंश को ही मूलभूत स्वीकारते हैं। प्रथम, अष्टम, नवम और दशम मण्डलों को वे प्रक्षिप्त मानते हैं। दशम मण्डल सबसे बाद में जोड़ा गया माना जाता है, क्योंकि इसमें स्वरसंकोच का प्रचलन तथा रेफ के स्थान पर लकार का प्रयोग बढ़ गया है। भाषायी आधार के अतिरिक्त सर्वथा नये-नये विचारों का समावेश, नये-नये देवताओं का प्रभाव बढ़ना तथा कतिपय पूर्ववर्ती देवताओं का सर्वथा प्रभावहीन हो जाना आदि अनेक प्रमाण उक्त धारणा के पोषक हैं।

रचना-काल—भाषा के आधार पर तथा ज्योतिष सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने ऋग्वेद के काल-निर्धारण का प्रयास किया है। मैक्समूलर ने सूत्रकाल ई० पू० २०० से ६०० तक, ब्राह्मण काल ई० पू० ६०० से ८०० तक, मंत्र काल ई० पू० ८०० से १००० तक तथा छन्द काल ई० पू० १००० से १२०० तक मान कर ऋग्वेद को १२०० ई० के आस-पास की रचना माना है। ह्विटने ने मैक्समूलर के उक्त चार कालों को तो माना है, किन्तु छन्दकाल को वे २००० से १५०० ई० पू० स्वीकारते हैं। वेबर का मत है कि ई० पू० १६ वीं शताब्दी में फारस और आसन्नवर्ती प्रदेशों के निवासियों की एक टुकड़ी भारत में आकर सिन्धुघाटी में बस गई और उसने कुछ पद्यों (=ऋचाओं) की रचना की, जिनके संग्रह का नाम 'ऋग्वेद' है। वेबर के मत में पूर्ण आस्था रखने पर भी वेनफे महोदय भारत में आये आर्यों का आगमन काल ई० पू० २००० वर्ष मानते हैं। हॉग महोदय ने वेदाङ्ग ज्योतिष् (ई० पू० १२ वीं शताब्दी) के—

"प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्यचन्द्रमसावुदक्।
सार्पार्धे दक्षिणार्थस्तु माघश्रावणयोः सदा॥"

—के आधार पर ब्राह्मणकाल ई० पू० १२०० से १४०० तक तथा संहिता

काल ई० पू० १४०० से १६०० तक स्वीकार किया है। किन्तु प्राचीनतम ऋचाओं को कुछ शताब्दी और पूर्व मानते हुए वे वैदिक साहित्य का प्रारम्भ २४०० ई० पू० से मान कर इसे ही ऋग्वेद का समय स्वीकार करते हैं। शङ्कर बिलकृष्ण दीक्षित शतपथ ब्राह्मण के 'एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि अथैता एव भूयिष्ठा यत्कृतास्तद् भूमानमेवैतदुपैति तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत ।। एताह वै प्राच्यै: दिशो न च्यवन्ते सर्वापि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै: विशश्चवन्ते'—इस अंश के आधार पर कृत्तिका की उक्त स्थिति ई० पू० ३००० के लगभग होने से उसे ही शतपथ ब्राह्मण का समय मानते हैं तथा ऋग्वेद को तदनुसार ३२०० ई० पू० का भी पूर्ववर्त्ती स्वीकारते हैं। ऋग्वेद में संकेतित वसन्तसंक्रान्ति (Vernal equinox) को आधार बना कर तिलक महोदय ऋग्वेद को ४००० ई० पू० से बाद का मानने के लिए कथमपि तैयार नहीं हैं। आज से लेकर ऋग्वेद के समय तक जो-जो ऋतु-परिवर्तन हुए हैं, उनके आधार पर जैकोबी महोदय भी ऋग्वेद का काल कम से कम ४००० ई० पू० स्वीकार करते हैं।

विद्वानों का एक वर्ग वेदों को अपेक्षाकृत बाद की रचना मानता है। जी० हुसिंग ने कुनीफार्म शिलालेखों में प्राप्त राजाओं के नामों को तोड़-मरोड़ कर भारतीय नामों जैसा बना दिया है और तदनुसार १००० ई० पू० के लगभग आर्यों का आरमीनिया से अफगानिस्तान आकर वहाँ ही ऋग्वेद का रचा जाना वे मानते हैं। उनके अनुसार अफगानिस्तान से खदेड़े जाकर आर्य लोग भारत आये। जे० हर्टेल तो ऋग्वेद का ईरान में रचा जाना मान कर उसे जोरोस्टर (५५० ई० पू०) से पूर्व का कदापि नहीं स्वीकार करते। एच० ब्रून० होफर ऋग्वेद में वर्णित राजा कानीत पृथुश्रवा को एक सिक्के में अङ्कित सीथिया के राजा कानीत (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) से अभिन्न मान कर ऋग्वेद को उसके बाद की रचना मानते हैं।

भाषायी आधार पर ऋग्वेद का काल अनुमानित करना ठीक नहीं है। ज्योतिष के प्रमाणों में तर्कसंगतता अवश्य है। इस प्रकार ऋग्वेद ४००० ई० पू० के बाद की रचना कदापि नहीं हो सकता। वेदों को अपौरुषेय मानने वालों के लिए इसके रचनाकाल का प्रश्न ही नहीं उठता। वे तो वेदों को भी ईश्वर की भाँति अनादि और स्वयंभू मानते हैं।

प्रतिपाद्य विषय—ऋग्वेद में कई प्रकार के सूक्त मिलते हैं—

१ **देवस्तवन विषयक सूक्त**—इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों के अतिरिक्त कुछ देवियों, कुछ भावात्मक देवताओं, कुछ पृथ्वी पर के देवताओं, कुछ पशु-वृक्षादि के स्तवन भी उपलब्ध होते हैं।

२. **कर्मकाण्ड विषयक सूक्त**—इसके अन्तर्गत सोमपरक सूक्त (जिनका प्रयोग सोमयज्ञों में होता था), आप्रीसूक्त (जिनका प्रयोग पशुमेध यज्ञों में होता था), अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी सूक्त और विवाह-सूक्त आते हैं।

३. **देवता विषयक अविश्वास परम्परा सम्बन्धी सूक्त**—इन्द्रसूक्त का 'स जनास इन्द्रः' के प्रत्यावर्तन से प्रकट होता है कि उस समय इन्द्र विषयक अविश्वास भी पनपने लगा था। प्रजापति सूक्त में 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' से ध्वनि निकलती है कि प्रजापति को छोड़कर अन्य देवों का महत्व नगण्य है। सृष्ट्युत्पत्ति सूक्त में तो यह अविश्वास-परम्परा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है।

४. **संवाद सूक्त**—महाकाव्यों और नाट्यपूर्ण कविता से गठबन्धन करने वाले लगभग २०० संवाद सूक्त ऋग्वेद में उपलब्ध हैं। मुख्य संवाद सूक्त ये हैं—उर्वशी-पुरुरवा संवाद, यम-यमी संवाद, इन्द्र-वरुण संवाद, देवतागण-अग्नि संवाद, इन्द्र-इन्द्राणी संवाद, शर्मा (=इन्द्र का दूत) और पणिगण (=इन्द्र के शत्रु) का संवाद और वरुण-अग्नि संवाद आदि।

५. **अभिचारविधानानुबन्धित सूक्त**—इस प्रकार के ३० सूक्त ऋग्वेद में हैं, जिनमें रोग-नाश, विष-हरण, भूत-चुड़ैलादि से रक्षा, गर्भ-रक्षा, दुःस्वप्नों और अपशकुनों का प्रभाव-नाश, विजय, अन्न-पशु आदि की वृद्धि तथा इसी प्रकार के अन्य विषय समाविष्ट हैं।

६. **अधार्मिक सूक्त**—इसके अन्तर्गत कुछ अत्यन्त मार्मिक और कवित्वपूर्ण-सूक्त तथा विविध प्रहेलिकाएँ आती हैं।

८. **दानस्तुति विषयक सूक्त**—इस प्रकार के लगभग ४० सूक्त ऋग्वेद में हैं, किन्तु सर्वतोभावेन शुद्ध दानस्तुति तो प्रथम मण्डल का १२६ वाँ सूक्त ही है। अन्य सूक्तों के केवल अन्तिम पद्य में दानस्तुति मिलती है।

९. **सृष्ट्युत्पत्ति विषयक सूक्त**—इसमें 'सृष्ट्युत्पत्ति सूक्त' और 'पुरुष-सूक्त' प्रमुख हैं।

हमें यह भी मानना पड़ेगा कि ऋग्वेद अपने मूल रूप में आज के ऋग्वेद से अधिक विस्तृत था। उसका एक बड़ा अंश कण्ठ-परम्परा के होने और लेख-परम्परा के न होने से सुरक्षित रहता हुआ भी विलुप्त हो गया।

विविध पाठ-योजना—ऋग्वेद का **मूलतः** परम्परा से शिष्य को गुरु से कण्ठानुसंक्रमण द्वारा मिलता रहा। वही संहिता पाठ कहलाता था। सावधानी रखने पर भी उसमें विभिन्न अशुद्धियों की सम्भावना थी ही, इसलिए इसके स्वरूप को सुरक्षित रखने के लिए **पदपाठ** का आयोजन किया गया, जिसने

ऋग्वेद के सूक्तों पर विशुद्धता और प्रामाणिकता की छाप अंकित कर दी। इस पदपाठ के कर्ता शाकल्य मुनि हैं।

संहिता पाठ को परिवर्तनादि से बचाने के लिये **क्रमपाठ** की योजना की गई। इसमें पदपाठ का प्रत्येक पद दो बार आता है—एक तो पूर्ववर्ती पद से सम्बन्धित होता है, दूसरा परवर्ती से। मान लो कि प्रथम चार पद क, ख, ग, घ हैं तो उनका क्रमपाठ इस प्रकार होगा—कख, खग, गघ।

क्रमपाठ पर ही आधारित **जटा** पाठ भी है, जिसमें एक अक्षर को तीन बार दोहराया गया है। उदाहरणार्थ—कख, खक, कख; खग गख खग; गघ घग गघ।

घनपाठ—सर्वाधिक गूढ़ है। वह इस प्रकार है—कख, खक, कखग, गखक, कखग, खग, गख, खगघ, घगख, खगघ।

प्रातिशाख्यों और अनुक्रमणियों को भी संहिता पाठ का प्रतिरक्षक माना जा सकता है। पदपाठ से संहितापाठ बनाने में जिन-जिन परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती है, उनका प्रतिपादन प्रातिशाख्यों में हुआ है। अनुक्रमणियों में प्रत्येक सूक्त, ऋचा, शब्द और अक्षर तक की संख्या दी गई है। इन तमाम कारणों से ऋग्वेद का संहिता पाठ आज भी पूर्ववत् सर्वथा शुद्ध बना हुआ है।

ऋग्वेद का धर्म—ऋग्वेदीय काल के धर्म की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं :—

१. ऋग्वेद के बड़े-बड़े देवता प्रकृति की ही विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। यथा—सूर्य, चन्द्र, अग्नि, पवन, उषा, पृथ्वी आदि। इन्द्र, वरुण, मित्र, विष्णु, पूषा, अश्विनीकुमार, रुद्र, पर्जन्य आदि भी अपने प्रारम्भिक रूप में प्रकृति की ही शक्तियाँ मात्र थे।

२ इसमें बहुदेवत्ववाद के दर्शन होते हैं। ऋग्वेद में ३३३९ देवताओं का उल्लेख मिलता है। विभिन्न जातियों और कालों के देवता भी भारतीयों के बहुदेवत्ववाद में प्रतिष्ठित हुये।

३. ऋग्वेद में एकेश्वर वाद को भी नहीं नकारा जा सकता। वहाँ उल्लिखित विभिन्न देवता एक ही शक्ति के रूपान्तर मात्र हैं और वह शक्ति परमात्मा ही है।

४. ऋग्वेद में प्रत्येक देवता को ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वशक्तिमान् मान कर उसका स्तवन किया गया है। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि तेज, शक्ति, दान और बुद्धि आदि गुण सभी देवताओं में समानरूपेण प्राप्त हैं।

५. वैदिक देवताओं का प्रायः युग्मरूप में आवाहन किया गया है। यथा—

मित्रावरुण, इन्द्राग्नी, द्यावापृथिवी आदि। कुछ देवता समुदायरूपेण स्वीकार्य हैं। यथा—मरुद्गण, आदित्यगण, वसुगण, विश्वेदेवाः, ऋभुगण आदि।

६. वैदिक धर्म में देवताओं की अपेक्षा देवियों का स्थान और शक्ति नगण्य है।

७. वैदिक धर्म में उपदेश कम हैं, किन्तु, स्तवन और कर्मकाण्ड अधिक हैं।

८. ऋग्वेद के धर्म में देवमूर्तियों और मंदिर आदि का कोई अस्तित्व नहीं था।

९. वैदिक धर्म आशावादी है। उसमें इस जीवन से पलायन और मोक्षप्राप्ति आदि के प्रति कोई मोह नहीं परिलक्षित होता।

१०. ऋग्वेद के धर्म को धनी व्यक्तियों का धर्म कह सकते हैं। यजमान का घर धन-धान्य से पूर्ण होना आवश्यक है, तभी याज्ञिक क्रियायें सम्भव हैं।

११. इसे पुरोहितों का धर्म भी कह सकते हैं, क्योंकि पुरोहितों का हर क्षेत्र में प्राधान्य था।

१२. प्रयोगात्मक और उपयोगितापूर्ण होना इस धर्म की सबसे बड़ी विशेषता है।

१३. ऋग्वेद के देवता और उनके पूजक अन्योन्याश्रित हैं। देवताओं के प्रसाद से पूजक को सुख-समृद्धि मिलती है। इसी प्रकार पूजक के होम आदि से ही देवताओं का शरीर पुष्ट होता है।

१४. ऋग्वेद के देवताओं में यह विशेषता है कि वे एक ही समय अनेक स्थलों पर आयोजित यज्ञों में उपस्थित रहा करते थे; वे अपने कृपापात्र किसी दलविशेष के प्रति पक्ष-पात पूर्ण भी थे; वे सदाशय और सद्गुणों के रक्षक एवं छल-कपट आदि के निरोधक थे; वे जन्म-जात थे क्योंकि उन्हें द्युलोक और पृथ्वी का पुत्र कहा गया है।

१५. ऋग्वेद में पितरों को भी देव कोटि में प्रस्थापित किया गया है।

१६. इन्द्र और रुद्र को छोड़ कर प्रायः सभी देवता शान्तिप्रिय और सौम्य स्वभाव वाले हैं।

ऋग्वेद की अन्य विशेषतायें—ऋग्वेद सर्वाधिक पुरातन ग्रन्थ है। इसकी भाषा सरल और स्वाभाविक है। इसके विचार भी सीधे-साधे और कलात्मकता से शून्य हैं। अधिकांश देवताओं का प्रकृति से तादात्म्य होने से इसे यथार्थवादी कहा जा सकता है। यह धार्मिकता के मधुर रस से आद्यान्त लिप्त है। हिब्रू भाषा के स्तोत्र ग्रन्थों की तरह इसके सूक्त भी, जो एक दीर्घकाल में भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा रचे गये, किसी एक समय में एक संग्रह के रूप में संकलित होकर 'ऋग्वेद' कहलाने लगे। केगी महोदय

के अनुसार यह देवताओं के प्रति पवित्र विश्वास और श्रद्धा का प्रकटीकरण और दैवीशक्ति से प्रेरित गायकों के अन्तःकरण के उद्गारों से युक्त है। ऋग्वेद पौराणिक आख्यानों से भरा पड़ा है। इसमें तात्कालिक युग का चित्रण भी हुआ है।

इस प्रकार निखिल वैदिक साहित्य में ऋग्वेद का स्थान सर्वोच्च है।

अथर्ववेद-परिचय

इसका प्राचीनतम नाम 'अथर्वांगिरसः' (=अथर्वन् और अंगिराओं का वेद) है। 'अथर्वन्' में हमें रोग-नाश के मंत्र तथा 'अंगिरस्' में शत्रुओं, प्रतिद्वन्द्वियों, और दुष्ट मायावियों के लिये अभिशाप मंत्र हैं। प्रोफेसर ब्लूमफील्ड के अनुसार अथर्वन् 'पवित्र धार्मिक सूक्तों' और अंगिरस् 'अभिचार सूक्तों' का नाम है।

आकार—इसमें २० अध्याय, ७३१ सूक्त और लगभग ६००० ऋचायें हैं। मूलभाग केवल प्रथम १३ अध्यायों से युक्त था, शेष अध्याय बाद में जुड़ गये प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनका विषय भिन्न है।

रचनाकाल—अथर्ववेद का संस्करण ऋग्वेद के संस्करण के बाद का अवश्य है, किन्तु यह भी सत्य है कि अथर्ववेद के कुछ अंश ऋग्वेद के बाद के कदापि नहीं हो सकते। उदाहरण के लिये अथर्ववेद के अभिचारमंत्र ऋग्वेद के याज्ञिक मंत्रों के पहले के नहीं, तो बाद के भी नहीं हैं।

प्रतिपाद्य विषय—अथर्ववेद में विषयों की विविधता के दर्शन होते हैं—

१. **आयुर्वेद सम्बन्धी सूक्त**—एक बड़े भाग में रोगों के निदान सम्बन्धी मंत्र प्राप्त होते हैं। कहीं रोग के कारणभूत दैत्यादिक को सम्बोधित किया गया है तो कहीं तन्निवारणकर्ता औषधिविशेष, जल या अग्नि आदि को उद्देश्य करके स्तुति की गई है।

२. **आयुष्य सूक्त**—दीर्घायु और सुन्दर स्वास्थ्य के लिये भी प्रार्थनायें की गई हैं।

३. **पौष्टिक सूक्त**—इन प्रार्थनाओं को करके व्यापारी, कृषक, द्यूतकर आदि लाभ और सफलता की कामना करते हैं।

४. **मृगारसूक्त**—ये प्रसन्नता, आशीर्वाद आदि की प्राप्ति के लिये तथा भूतादि से रक्षा के लिये की गई प्रार्थनायें हैं।

५. **प्रायश्चित्त सूक्त**—विविध अपराधों, पापों आदि के प्रायश्चित्त स्वरूप अनेक मंत्र अथर्ववेद में मिलते हैं।

६. **स्त्री कर्माणि सूक्त**—ये प्रेम-व्यापारादि सम्बन्धी सूक्त हैं। इसमें दो प्रकार के सूक्त हैं—(क) विवाह और सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी—इसमें अभिलषित वर या वधू की प्राप्ति, सुन्दर-स्वस्थ-सन्तान-प्राप्ति, गर्भ-रक्षा आदि विषय आते हैं। (ख) **आभिचारिक**—इसमें कुमार्ग-प्रवृत्त पति या पत्नी को उचित मार्ग पर लाना, नींद का आमंत्रण, किसी स्त्री या पुरुष को उसकी इच्छा के विरुद्ध प्रेम करने पर विवश कराना, किसी स्त्री को वन्ध्या या पुरुष को नपुंसक बना देना आदि विषय समाविष्ट हैं।

७. **राजकर्माणि**—इसमें कुछ मंत्र राजाओं की आवश्यकता-पूर्ति के लिए, कुछ शत्रुओं के विरुद्ध प्रयुक्त इन्द्रजाल-पूर्ण और कुछ आशीर्वादात्मक हैं।

८. **याज्ञिक सूक्त**—यह वेद भी पवित्र माना जाय, इस दृष्टि से इसमें कुछ याज्ञिक सूक्तों का भी समावेश हैं। उदाहरण के लिये १८ वें मण्डल में अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी और २० वें मण्डल में सोमयज्ञ सम्बन्धी सूक्त।

९. **कुन्तापसूक्त**—२० वें मण्डल के १० सूक्त इस प्रकार के हैं कि उनमें या तो ऋग्वेद की सी दानस्तुतियाँ हैं, या वैसी ही प्रहेलिकायें या फिर गन्दे गीत और भद्दे मजाक।

१०. **दार्शनिक सूक्त**—अथर्ववेद के इस प्रकार के सूक्तों में न तो सत्य की खोज है और न विश्व की रहस्यमय पहेलियों का समाधान ढूँढ़ने की चेष्टा। इनके रचयिता दार्शनिक होने का स्वाँग भरते हैं। कृत्रिम और अप्रगल्भ कल्पना की दौड़-धूप करा कर ये लोग सर्वविदित दार्शनिक विचारों का दुरुपयोग करते हैं।

११. **रोहित सूक्त**—इन सूक्तों में कोई क्रम नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं। सबके विषय अलग-अलग हैं। इस प्रकार के अनेक बचे-खुचे सूक्तों को १३ वें मण्डल में भर दिया है।

१२. **गूढ़ विचार-परम्परा वाले सूक्त**—ये सत्य गूढ़ दार्शनिक विचार उनके अपने नहीं, अपितु इधर-उधर से चुराये हुए हैं—विशेषकर ऋग्वेद से। उन झूठे दार्शनिकों ने इन सत्यभूत विचारों को इस लिये दिया है कि उनकी अन्य बकवासों को भी गूढ़ दार्शनिक विचारों से युक्त मान लिया जाय। एक बकवास का नमूना देखिये—

प्रश्न पूछा गया है कि इन्द्र, सोम, अग्नि, त्वस्तृ और धातृ कहां से प्रादुर्भूत हुये? उत्तर यह है कि—इन्द्र इन्द्र से, अग्नि अग्नि से, त्वस्तृ त्वस्तृ से और धातृ धातृ से उत्पन्न हुए। इस प्रकार से सूक्तों में न दार्शनिकता है न कवित्व।

तथापि अथर्ववेद की विषय सामग्री को सर्वथा कूड़ा-करकट नहीं कहा जा सकता। उस कूड़े में भी अनेक हीरे-मोती छिपे पड़े हैं।

देवताओं का स्वरूप

ऋग्वेद के मन्त्रों में विविध देवी-देवताओं की स्तुति की गई है, जिससे कि वे सुख-समृद्धि, धन्य-धान्य, विजय-वैभव आदि प्रदान करें। यास्क के मतानुसार ये देवता मानवाकृति वाले हैं। दूसरे मत में ये प्रकृति की ही विविध शक्तियों के प्रतीक हैं। एक अन्य व्युत्पत्ति के अनुसार ये देवगण आत्मिक शक्तियों के प्रतीक हैं। मनस्, प्राण और वाक् ही क्रमशः सत्व, रजस् और तमस् हैं, जिनके संयोग से सृष्टि प्रादुर्भूत हुआ करती है। अग्नि 'प्राण' का, इन्द्र 'मन' का, सवितृ 'मस्तिष्क' का और मरुत्गण विभिन्न अंगों के वाची हैं। विष्णु सर्वशक्तिमान् शक्ति है। दैत्यगण विभिन्न बाधाओं के वाची हैं, जिनसे देवताओं का सतत संघर्ष हुआ करता है।

ऋग्वेद के एक मंत्र[1] में ३३३९ देवताओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु प्रमुख देवता ३२ हैं, जिन्हें द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक इन तीन स्थानों पर ११–११ के वर्गों में बांट दिया गया है। वैसे इन्द्र द्युलोक का, सविता अन्तरिक्षका तथा अग्नि भूलोक का सबसे प्रमुख देवता है। महत्व की दृष्टि से इन्द्र, वरुण, अग्नि और सोम सर्वोपरि हैं।[2]

यहां पाठ्यक्रमानुसार अग्नि, विष्णु, इन्द्र, पुरुष, प्रजापति, वाक् और पृथ्वी इन सात देवताओं मात्र के स्वरूपादि का निरूपण किया जा रहा है।

अग्नि

अग्नि वैदिक देवताओं में सर्वाधिक पवित्र देवता है। महत्व की दृष्टि से इन्द्र के बाद उसी का स्थान है। उससे सम्बन्धित लगभग २०० सूक्त ऋग्वेद में उपलब्ध हैं। वैसे तो उसका भी मानवविध वर्णन मिलता है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उसको प्रायः याज्ञिक अग्नि के रूप में ही कल्पित किया गया है। वह घृत-पृष्ठ, घृत-मुख, शोभन-जिह्व, घृतकेश, ज्वालजाल-केश, पिंगल-केश, पिंगल-श्मश्रु, निशित-दंष्ट्र, स्फुरद्दन्त, त्रिशिरा, घृताक्ष, सहस्राक्ष और सहस्रशृङ्ग है। काष्ठ और घृत उसका प्रिय भोज्य है। वैसे दुग्ध, धान्य (पुरोडाश) और सोम की आहुतियाँ भी वह स्वीकार करता है।

प्रकाश अग्नि का मुख्य गुण है। वह तेजोमय है और अपनी रश्मियों से अन्धकाश को निर्मूल करता है। जब वह वनराजि के मध्य विचरण करता है

---

१. ऋग्० ३।९।९।

२. वैदिक देवताओं की अन्य विशेषतायें 'ऋग्वेद परिचय' के अन्तर्गत धर्म शीर्षक में देखिये।

तो धरा उसी प्रकार वृक्ष-रहित हो चिक्कण हो जाती है जैसे नापित के क्षौरयंत्र से पुरुष की दाढ़ी। उसका मार्ग कृष्णवर्ण का है।

प्रकाशमान्, सुवर्णाभ, सुन्दर और चित्ररूप अश्वों से वाहित रथ पर आरूढ़ होकर वह विचरण करता है। इसी रथ में बैठाकर वह देवों को यज्ञ में ले आता है। देवों और मनुजों के मध्य वह दौत्यकर्म किया करता है। वह देवों का मुख है जिससे कि वे हुतांश का ग्रहण करते हैं। उसे ऋत्विक्, होता और पुरोहित कहा गया है।

स्वरूप की त्रयात्मकता उसका एक अन्य वैशिष्ट्य है। द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक—इन तीनों लोकों में उसका जन्म होना, उसके तीन शीर्ष, तीन जिह्वायें, तीन शरीर, तीन प्रकार के प्रकाश और तीन आश्रय स्थान, दिन में तीन बार उसका जन्म, तीन बार आहुति स्वीकार करना आदि उक्त तथ्य के प्रत्यायक हैं।

अग्नि का कई देवताओं से अभिन्न सम्बन्ध है। ऋग्० के द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त में तो अग्नि को द्यु, इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, ब्राह्मणस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, त्वष्टा, रुद्र और भग का समरूप बतलाया गया है। वह प्रातःकाल मित्र है, मध्याह्न में इन्द्र और सायंकाल वरुण। इसी प्रकार उत्पत्तिकाल में वह वरुण और प्रज्ज्वलन-काल में मित्र। अन्तरिक्ष में वह सवितृ है और याज्ञिकों के लिये इन्द्र।

उसके जननी-जनक अनेक हैं। त्वष्टा, आपस्, उषस्, द्यावा-पृथिवी, इन्द्र-विष्णु अथवा इन्द्र को अग्नि का उद्भावक, कहा गया है। वह दो अरणियों के घर्षण से उत्पन्न होता है। उसके जन्म-काल में दस क्वाँरी कन्यायें (सम्भवतः याज्ञिक की दश अंगुलियाँ) उपस्थित रहती हैं। अरणियों में से ऊपर वाली को पति और नीचे वाली को पत्नी कहा गया है। जिनके संयोग से शिशुवत् अग्नि का आविर्भाव होता है, किन्तु विडम्बना यह है कि यह शिशु उत्पन्न होते ही अपने माता-पिता का भक्षण कर जाता है। स्मरण रहे कि अग्नि को कभी वृषभ, कभी अश्व, कभी पक्षी, कभी गरुड़, कभी हंस और एक स्थल पर तो संक्रुद्ध उग्र सर्प के रूप में भी अवकल्पित किया गया है।

कुछ भी हो, मानव-जीवन से जितना सम्बन्ध अग्नि का है, उतना किसी अन्य वैदिक देवता का नहीं। उसे 'गृहपति' कहा गया है। प्रत्येक घर में उसका निवास है। अग्नि ही मात्र एक ऐसा देवता है जो कि मरणधर्मा मनुष्यों के साथ रहता है। उसे प्रायः पूजक का पिता, माता, भ्राता तो कभी पुत्र भी कहा गया है।

इस प्रकार 'पुरोहितत्व' प्रधान गुण वाला अग्नि पाप-निवारक, साधुजन-रक्षक और इस प्रकार सर्वोपरि देवता है। देव और मनुष्य दोनों ही उसके शासन को मानते हैं। वह अमरता का स्वामी है, जिसे वह अपने आराधकों को प्रदान करता है।

प्रस्तुत संकलन में संगृहीत सूक्तानुसार 'अग्नि' का स्वरूप एवं विध है :—

अग्नि का रूप—अग्नि प्रकाशमान् है।[1] प्रकाशित होना ही उसकी शोभा है।[2] वह अङ्गार-मय है।[3] इसी लिये उसका नाम 'अङ्गिरा' है। उसका यह नाम 'अङ्गिरस्' ऋषि का जनक होने के कारण भी संभाव्य है। कहते हैं कि प्रजापति की पुत्री शरीरधारिणी वाक् के यज्ञस्थल पर आ उपस्थित होने पर कामोत्पीड़ित सूर्य और वरुण को जो सद्यः रेतस्खलन हुआ, उसे वायु ने प्रवर्त्यमान् यज्ञाग्नि में निक्षिप्त कर दिया, जिससे कि अग्नि-ज्वालाओं से तो 'भृगु' की और अङ्गारों से 'अंगिरस्' ऋषि की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार अग्नि 'अंगिरस्' ऋषि का जनक है।

अग्नि का वैशिष्ट्य—वह प्रशंसनीय कर्म अथवा प्रज्ञा वाला है।[4] उसकी कीर्तियाँ विविध प्रकार की हैं,[5] जिनका उल्लेख आगे किया जायगा। वह यज्ञों का रक्षक[6] और सत्य का प्रकाशक[7] है। इसके अतिरिक्त वह सत्यभूत अथवा सत्यधर्मा[8] है। आशय यह कि कर्म-फल वह अवश्य प्रदान करता है।

अग्नि का पुरोहितत्व—अग्नि का यज्ञ से अभिन्न सम्बन्ध है। उसे यज्ञ का दैवी ऋत्विक्[9] कहा गया है। उसे सभी कार्यों में (विशेषतः धार्मिक अनुष्ठानों में) आगे किया जाता है अर्थात् अगुवा बनाया जाता है। इसी लिये वह 'पुरोहित'[10] है। यजमान के हित (= सर्वविध कल्याण) का ध्यान सबसे पूर्व रखने के कारण भी वह हमारा 'पुरोहित' है।

अग्नि का प्रकाश कर्म—वह स्वयं प्रकाशस्वरूप[11] है और इसीलिये वह रात्रि को प्रकाश-युक्त बना देने में समर्थ है।[12] उसमें नैशान्धकारोच्छेकता का गुण विद्यमान है।

---

१. 'देवः' (मंत्र १)
२. 'राजन्तम्' (मंत्र ८)
३. 'अङ्गिरः' (मंत्र ६)
४. 'कविक्रतुः' (मंत्र ५)
५ 'चित्रश्रवस्तमः' (मंत्र ५)
६. 'अध्वराणां गोपाम्' (मंत्र ८)
७. 'ऋतस्य दीदिविम्' (वही)
८. 'सत्यः' (मंत्र ६)
९. 'यज्ञस्य देवं ऋत्विजम्' (मंत्र १)
१०. 'पुरोहितम्' (वही)
११. 'राजन्तम्' (मंत्र ८)
१२. 'दोषावस्तः' (मंत्र ७)

अग्नि का होतृत्व—अग्नि 'होता'[1] भी है। यजमान की सुख-समृद्धि और रक्षा आदि की दृष्टि से ही वह देवताओं का आवाहन करता है। इतना ही नहीं वह यज्ञ के भागी देवताओं को लेकर यजमान के यज्ञ में स्वयं आ उपस्थित होता है।[2] उसके द्वारा देवताओं का यज्ञ में ले आया जाना अनेकधा उल्लिखित है।[3]

यजमान का उपकारक—वह यज्ञकर्ता का सतत उपकारक और कल्याणकर्ता है।[4] जो व्यक्ति अग्नि को आहुति प्रदान करता है, वह उसका कल्याण अवश्यमेव करता है, इसमें सन्देह का कोई लेश भी नहीं है।[5] अग्नि के माध्यम से याज्ञिक को धन, पुष्टि, यश और वीर पुत्र-पौत्रादिक का लाभ होता है।[6] वह उत्तम धनादिक का प्रदाता है।[7] जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र के लिये कल्याण-भावना रखता है, उसी प्रकार अग्नि भी हमारा कल्याण करने वाला है।[8] इसीलिये तो सभी मनुष्य अपने कल्याण हेतु उसके साहचर्य की कामना करते हैं।[9]

अग्नि का साक्षिकर्म—जिस पूजाकर्म या हवनादिक यज्ञकर्म का साक्षी अग्नि होता है, केवल उसका ही फल देवताओं को पहुँचता है[10], अन्य का नहीं। इसीलिये प्रत्येक अनुष्ठान में साक्षिरूपेण अग्नि की प्रस्थापना सर्वप्रथम की जाती है।

अग्नि की पूजनीयता—उपर्युक्त अनेकविध गुणों के कारण अग्नि हमारी पूजा का पात्र है। वह त्रिकालवर्ती ऋषियों का पूज्य रहा है। पुरातनकालीन और अर्वाचीन ऋषिगण उसकी पूजा-प्रार्थना किया करते हैं।[11] मनुष्यगण भी

---

१. 'होतारम्' (मंत्र १); 'अग्निर्होता' (मंत्र ५)
२. 'देवेभिरा गमत्' (मंत्र ५)
३. 'स देवाँ एह वक्षति' (मंत्र २)
४. 'यदंग दाशुषे त्वम् अग्ने भद्रं करिष्यसि' (मंत्र ६)
५ 'तवेतत्सत्यमंगिरः !' (वही)
६. 'अग्निना रयिमश्नवत्——आदि' (मंत्र ३)
७. 'रत्नधातमम्' (मंत्र १)
८. 'स नः पितेव सूनवे—आदि' (मंत्र ९)
९. 'सचस्व नः स्वस्तये' (मंत्र ९)
१०. '—स इद्देवेषु गच्छति' (मंत्र ४)
११. 'पूर्वेभिर्ऋषिभिर् ईड्यो नूतनैरुत' (मंत्र २)

नित्यप्रति भक्तिभाव से अग्निदेव को प्रणाम करते हैं और उसका सामीप्य प्राप्त करते हैं।[1]

इस प्रकार वैदिक देव-परम्परा में अग्नि का एक विशिष्ट स्थान है।

विष्णु

वैदिक देव-परम्परा में विष्णु का स्थान अत्यन्त गौण है। उसका स्तवन मात्र ५ सूक्तों में किया गया है।

विष्णु की सबसे बड़ी विशेषता उसके तीन पाद-प्रक्षेप हैं, जिनका दशाधिक बार उल्लेख मिलता है। 'उरुगाय' और 'उरुक्रम' आदि पद भी उक्त तथ्य के प्रत्यायक हैं। उसके तीन पद-क्रम मधु से आपूरित हैं, जिनमें से दो दृष्टि-गोचर हैं, तीसरा सर्वथा अगोचर। यास्क के पूर्ववर्ती शाकपूणि इन तीन पाद-प्रक्षेपों को ब्रह्माण्ड के तीन भागों में सूर्य की संचारगति के प्रतीक मानते हैं। यास्क के ही पूर्ववर्ती और्णवाभ उन्हें सूर्य के उदय, मध्याकाश में स्थिति तथा अस्त का वाची मानते हैं। तिलक महोदय इनसे वर्ष के त्रिधाविभाजन (प्रत्येक भाग में ४ महीने) का संकेत मानते हैं।

यदि देखा जाय तो अधिकांश विद्वान् विष्णु को सूर्य-वाची मान कर उदय-काल से मध्याह्न पर्यन्त उसका एक पादप्रक्षेप, मध्याह्न से अस्तकाल पर्यन्त द्वितीय पादप्रक्षेप और अस्तकाल से पुनः अग्रिम उदयकाल तक तृतीय पाद-प्रक्षेप स्वीकारते हैं। इन्हीं पूर्वोक्त दो पाद-प्रक्षेपों को दृष्टिगोचर और तृतीय को अगोचर कहा गया है। सूर्य की कल्पना का ही समर्थन करते हुये मैकडानल ने विष्णु द्वारा अपने ९० अश्वों के संचालित किये जाने का उल्लेख किया है, जिनमें से प्रत्येक के चार-चार नाम हैं। इस प्रकार ४ की संख्या से गुणीकृत ९० अर्थात् ३६० अश्वों को वे एक सौर वर्ष के दिनों से अभिन्न मानते हैं।

विष्णु की दूसरी प्रमुख विशेषता उसका इन्द्र से मैत्रीभाव है। इन्द्र के साहचर्य में ही उसके तीन पाद-प्रक्षेपों का प्रवर्तन होता है। इन्द्र के साथ मिल-कर वह शम्बर दैत्य के ९९ महलों का विनाश करता है। इसी प्रकार वह वृत्र के साथ संग्राम में भी इन्द्र की सहायता करता है। दोनों को कहीं-कहीं एक दूसरे की शक्तियों से युक्त भी बतलाया गया है। इस प्रकार विष्णु द्वारा सोम-पान किया जाना और इन्द्र द्वारा तीन पाद-प्रक्षेप किया जाना भी वर्णित है। ऋग्० मण्डल ६, सूक्त ६९ में दोनों देवों का युग्मरूपेण स्तवन हुआ है। इसी प्रकार ऋग्० मण्डल ५, सूक्त ८७ में इन्द्र के सहचर मरुतगणों के साथ उसकी सहस्तुति प्राप्त होती है।

---

१. दिवे दिवे नमो भरन्तः एमसि' (मंत्र ७)

विष्णु भ्रूण-रक्षक भी है। गर्भस्थ बीज की रक्षा के लिये और सुन्दर बालक (बालिका नहीं) की उत्पत्ति के लिये विष्णु की प्रार्थना की जाती है।

विष्णु का परम प्रिय धाम सबके लिये काम्य है। वहाँ मधु का उत्स एवं अनेक शृंग वाली तीव्रगामी गायें (अथवा किरणें) उपलब्ध हैं। वहाँ रह कर देवताओं और पुण्यात्माओं को सुख और आनन्द की सम्प्राप्ति होती है।

प्रस्तुत संकलन में संगृहीत सूक्तानुसार विष्णु का स्वरूप इस प्रकार हैं :—

परम वीर्य शाली—√विष् धातु से व्युत्पन्न विष्णु पद का शाब्दिक अर्थ 'गतिशील, क्रियाशील अथवा उद्यम-शील' होता है। अपने बल-विक्रम के ही कारण वह लोगों द्वारा स्तुत होता है।[१] वह अनन्त वीर्यवाला है।[२] इस गुण के कारण ही उसे प्रतीक रूप से 'वृषभ' भी माना गया है।[३]

भयापादक—अपने वीर्य अथवा वीर कर्मों के कारण वह शत्रुओं के भय का कारण है। उससे लोग उसी प्रकार भयभीत रहते हैं, जिस प्रकार किसी पर्वतचारी सिंह से।[४] 'परमेश्वराद्भीतिः' आदि श्रुति-वचनों से सामान्य जनों का भी उससे भय करना सिद्ध हो जाता है। उससे भयभीत होना अकारण नहीं है। वह शत्रु-वध आदि हिंसाकर्म करने वाला है।[५]

विस्तीर्ण गति वाला—विष्णु विस्तीर्ण, व्यापक और अप्रतिहत गति वाला है। 'उरुगाय'[६] और 'उरुक्रम'[७] आदि पद इस तथ्य के पोषक हैं। 'उरुगाय' का अर्थ 'महज्जनों द्वारा स्तूयमान' अथवा 'प्रभूततया स्तूयमान' करने से भी विष्णु की महिमा विखण्डित नहीं होती। इस पद का अर्थ 'विस्तीर्ण गति वाला' करने के लिये हम इस लिये आग्रहवान् हैं, क्योंकि उसे 'सभी लोकों में संचरण करने वाला'[८] कहा गया है। उसके पद-क्रम इतने सुदीर्घ होते हैं कि वह अपने तीन पाद-प्रक्षेपों से ही तीनों लोकों को नाप लेता है।[९]

---

१. 'प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण' (मंत्र २)
२. 'वृष्णे' (मंत्र ३)
३. 'वृष्णे' (मंत्र ३), 'वृष्णः' (मंत्र ६)
४. 'मृगो न भीमः' (मंत्र २)
५. 'कुचरः' (वही)
६. 'उरुगायः' (मंत्र १); 'उरुगायाय' (मंत्र ३); 'उरुगायस्य' (मंत्र ६)
७. 'उरुक्रमस्य' (मंत्र ५);
८. 'कुचरः' (मंत्र २)
९. 'त्रिभिरित्पदेभिः' (मंत्र ३)

उसके तीन पाद-प्रक्षेप—विष्णु के तीन पदक्रमों का बहुधा उल्लेख मिलता है। सम्भवतः यह उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। उसके तीन पद-क्रम मधु से परिपूर्ण कहे गये हैं,[१] जो कभी भी क्षीण नहीं होते।[२] उसके तीन पद-क्रम इतने विस्तृत हैं कि उनमें सम्पूर्ण लोक विद्यमान रहते हैं (अथवा तदाश्रित रहते हैं)[३]। 'त्रेधा विचक्रमाणः'[४] भी प्रकारान्तर से उसके तीन पाद-प्रक्षेपों को ध्वनित करता है।

लोकोपकारक—विष्णु के तीन पद यदि सृष्टि करते हैं,[५] स्थापन करते हैं,[६] धारण करते हैं[७] तो वहीं पर वे आश्रित जनों का पालन-पोषण भी किया करते हैं। लोगों को अपना भोग्य अन्नादि उन्हीं तीन पद-क्रमों के प्रसादस्वरूप प्राप्त होता है, जिससे कि वे परम तृप्ति का अनुभव किया करते हैं।[८] जो लोग विष्णु की स्तुति करते हैं, उनका वह सर्वविध कल्याण करता है, क्योंकि उनके स्तवनादि कर्म से उसे परम स्फूर्ति मिलती है। इस प्रकार स्फूर्ति-प्रदायिनी स्तुति विष्णु तक पहुँचा पाने के लिये सभी लालायित रहते हैं।[९]

त्रयात्मकता—विष्णु के गुणों में भी त्रयात्मकता परिलक्षित होती है। वह तीन पद-क्रम वाला,[१०] तीन प्रकार की गति करने वाला,[११] तीनों लोकों को नाप लेने वाला[१२] और लोकत्रय का धारक[१३] है। इसी प्रकार वह 'त्रिधातु'[१४] अर्थात् सत्, रज और तम का समीकृत रूप अथवा पृथ्वी, जल और तेज से युक्त भी है।

---

१. 'यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि' (मंत्र ४)
२. 'अक्षीयमाणा' (वही)
३. 'यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा' (मंत्र २)
४. दे०—(मंत्र १)
५. वही 'पार्थिवानि विममे रजांसि'
६. वही 'अस्कभायदुत्तरं सधस्थं'
७. दे०—(मंत्र ४) 'दाधार भुवनानि विश्वा'
८. 'स्वधया मदन्ति' (मंत्र ४)
९. 'प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म' (मंत्र ३)
१०. 'त्रिषु विक्रमणेषु' (मंत्र २); 'त्री······पदानि' (मंत्र ४)
११. 'त्रेधा विचक्रमाणः' (मंत्र १)
१२. दे०—(मंत्र ३)
१३. दे०—(मंत्र ४)
१४. 'य उ त्रिधातु' (मंत्र ४)

स्रष्टा और धारक—विष्णु पार्थिव लोकों का निर्माण[१] और परम विस्तृत अन्तरिक्ष आदि लोकों का प्रस्थापन करने वाला[२] है। वह स्वनिर्मित लोकों में तीन प्रकार की गति करने वाला है।[३] उसकी ये तीन गतियां उद्भव, स्थिति और विलय की प्रतीक हैं। इस प्रकार जड़-जंगम सभी का वह निर्माता भी है, पालक भी और विनाशक भी। वह लोकत्रय का अकेला धारक है।[४] वह अपने तीन पाद-प्रक्षेपों से अकेला ही तीनों लोकों को नाप लेता है।[५] लोकत्रय को नाप लेने से भी यह फलित होता है कि लोकत्रय अर्थात् वहाँ के समग्र प्राणी उसके पूर्ण नियंत्रण में हैं।

विष्णु का प्रिय लोक—वैसे तो विष्णु को वाणी में निवास करने वाला भी माना जाता है,[६] किन्तु उसका परम प्रिय आवास स्थल ऋग्वेद में बहुचर्चित है। 'गिरि' पद को लाक्षणिक रूप में 'पर्वत के समान उन्नत लोक'[७] के अर्थ में यदि स्वीकृत कर लिया जाय तो समस्या का समाधान हो जाता है।

विष्णु का लोक 'परम पद'[८] है अर्थात् गन्तव्य रूपेण वह सर्वोत्कृष्ट लोक है। उस 'परम पद' की विशेषता यह है कि वह अत्यधिक प्रकाश ने युक्त है।[९] वहाँ अनेक शृङ्गों वाली गायें (अथवा किरणें) संचरण किया करती हैं।[१०] 'गावः' का अर्थ 'गायें' करने पर वहाँ दुग्ध-घृतादि भोज्यजात का प्राचुर्य एवं 'किरणें' करने पर वहाँ प्रकाश का बाहुल्य अनुमित किया जा सकता है।

विष्णु के 'परम पद' में मधु का स्थायी उत्स (=स्रोत) है।[११] यह 'मधु' दिव्य अमृत भी हो सकता है, मधु नामक अवलेह्य पदार्थ भी और मधुर गुण भी। सर्वत्र सुस्वाद और तृप्ति का भाव प्राप्त होता है। इन गुणों से युक्त है

---

१. 'यः पार्थिवानि विममे रजांसि' (मंत्र १)
२. 'यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं'' (वही)
३. 'त्रेधा विचक्रमाणः' (वही)
४. 'एको दाधार भुवनानि विश्वा' (मंत्र ४)
५. 'एको विममे त्रिभिरित्पदेभिः' (मंत्र ३)
६. 'गिरिक्षिते' (मंत्र ३); 'गिरिष्ठाः' (मंत्र २)
७. दे०—मंत्र २ पर सायणीय भाष्य
८. 'विष्णोः परमे पदे' (मंत्र ५)
९. 'परमं पदमवभाति भूरि' (मंत्र ६)
१०. 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' (वही)
११. 'विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः

वह लोक। पुण्यशाली लोग वहाँ तृप्ति का अनुभव करते हुये उल्लिखित भी हैं।[1]

विष्णु के लोक में उसका सहचारी 'इन्द्र' भी सम्भवतः निवास करता है, जिसे एक स्थल पर 'वां वास्तूनि'[2] के साक्ष्य पर कल्पित किया जा सकता है। ऐसे उक्त लोक की प्राप्ति की कामना सभी करते हैं।[3]

कुल मिला कर कहा जा सकता है कि विष्णु हमारा परम हितैषी है।[4]

इन्द्र

ऋग्वेद के लगभग एक-चौथाई सूक्त इन्द्र से सम्बन्धित हैं। २५० सूक्तों के अतिरिक्त ५० से अधिक मंत्रों में उसका स्तवन प्राप्त होता है। वह ऋग्वेद का सर्वाधिक लोकप्रिय और महत्वपूर्ण देवता है। उसे आर्यों का राष्ट्रीय देवता भी कह सकते हैं। मुख्य रूप से वह वर्षा का देवता है जो कि अनावृष्टि अथवा अन्धकार रूपी दैत्य से युद्ध करता है तथा अवरुद्ध जल को अथवा प्रकाश को विनिर्मुक्त बना देता है। वह गौण रूप से आर्यों का युद्ध-देवता भी है, जो आदिवासियों के साथ युद्ध में उन आर्यों की सहायता करता है।

इन्द्र का मानवाकृतिरूपेण चित्रण दर्शनीय है। उसके विशाल शरीर, शीर्ष, भुजाओं और बड़े उदर का बहुधा उल्लेख प्राप्त होता है। उसके अधरों और जबड़ों का भी वर्णन मिलता है। उसका वर्ण हरित् है। उसके केश और दाढ़ी भी हरित्वर्णा हैं। वह स्वेच्छा से विविध रूप धारण कर सकता है।

ऋग्वेद इन्द्र के जन्म पर भी प्रकाश डालता है। पूरे दो सूक्त इन्द्र के जन्म से ही सम्बन्धित हैं। 'निर्ऋति' अथवा 'शवसी' नामक गाय को उसकी माँ बतलाया गया है। उसके पिता 'द्यौः' या 'त्वष्टा' हैं। एक स्थल पर उसे 'सोम' से उत्पन्न कहा गया है। उसके जन्म के समय द्यावा-पृथिवी काँप उठी थी। इन्द्र के जन्म को विद्युत् के मेघ-विच्युत होने का प्रतीक माना जा सकता है।

इन्द्र के सगे-सम्बन्धियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। अग्नि और पूषन् उसके भाई हैं। इसी प्रकार इन्द्राणी उसकी पत्नी और मरुत् गण मित्र तथा सहायक हैं। उसे वरुण, वायु, सोम, बृहस्पति, पूषन् और विष्णु के

१. 'नरो यत्र देवयवो मदन्ति' (मंत्र ५)

२. दे०—(मंत्र ६)

३. 'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै' (मंत्र ६);
'तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां (मंत्र ५)

४. 'स हि बन्धुरित्था' (वही)

साथ युग्मरूप में भी कल्पित किया गया है। तीन-चार सूक्तों में वह सूर्य का प्रतिरूप है।

इन्द्र एक बृहदाकार देवता है। उसका शरीर पृथ्वी के विस्तार से कम से कम दस गुना है। वह सर्वाधिक शक्तिमान् है। इसी लिये वह सम्पूर्ण जगत् का एक मात्र शासक और नियन्ता है। उसके विविध विरुद शचीपती (=शक्ति का स्वामी), शतक्रतु (=सौ शक्तियों वाला) और शक्र (=शक्तिशाली) आदि उसकी विपुला शक्ति के ही प्रकाशक हैं।

सोमरस इन्द्र का परम प्रिय पेय है। वह विकट रूप से सोमरस का पान करता है। उससे उसे स्फूर्ति मिलती है। वृत्र के साथ युद्ध के अवसर पर पूरे तीन सरोवरों को उसने पीकर सोम-रहित कर दिया था। दशम मण्डल के ११९ वें सूक्त में सोम पीकर मदविह्वल बने हुए स्वगत भाषण के रूप में अपने वीर-कर्मों और शक्ति का अहम्मन्यतापूर्वक वर्णन करते हुए इन्द्र को देखा जा सकता है। सोम के प्रति विशेष आग्रह के कारण ही उसे सोम का अभिषव करने वाले अथवा उसे पकाने वाले यजमान का रक्षक बतलाया गया है।

इन्द्र का प्रसिद्ध आयुध 'वज्र' है, जिसे कि विद्युत्-प्रहार से अभिन्न माना जा सकता है। इन्द्र के वज्र का निर्माण 'त्वष्टा' नामक देवता-विशेष द्वारा किया गया था। इन्द्र को कभी-कभी धनुष-बाण और अंकुश से युक्त भी बतलाया गया है। उसका रथ स्वर्णाभ है। दो हरित् वर्ण अश्वों द्वारा वाहित उस रथ का निर्माण देव-शिल्पी ऋभुओं द्वारा किया गया था।

इन्द्र-कृत वृत्र-वध ऋग्वेद में बहुधा और बहुशः वर्णित और उल्लिखित है। सोम की मादकता से उत्प्रेरित हो, प्रायः मरुत् गणों के साथ, वह 'वृत्र' अथवा 'अहि' नामक दैत्यों (=प्रायः अनावृष्टि और अकाल के प्रतीक) पर आक्रमण करके अपने वज्र से उनका वध कर डालता है और पर्वत को भेद कर वन्दीकृत गायों के समान अवरुद्ध जलों को विनिर्मुक्त कर देता है। उक्त दैत्यों का आवास-स्थल 'पर्वत' मेघों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जिनका भेदन वह जल-विमोचन हेतु करता है। इसी प्रकार गायों को अवरुद्ध कर रखने वाली प्रस्तर-शिलायें भी जल-निरोधक मेघ ही हैं। मेघ ही वे प्रासाद भी हैं, जिनमें पूर्वोक्त दैत्य निवास करते हैं। इन प्रासादों की संख्या कहीं ९०, कहीं ९९ तो कहीं १०० बतलाई गई है, जिनका विध्वंस करके इन्द्र 'पुरभिद्' विरुद धारण करता है।

वृत्र या अहि के वधपूर्वक जल-विमोचन के साथ-साथ प्रकाश के अनवरुद्ध बना दिये जाने की बात भी बहुधा वर्णित है। उस वृत्र या अहि को मार कर इन्द्र सूर्य को सबके लिये दृष्टिगोचर बना देता है। यहाँ पर उक्त वृत्र या अहि

से अभिप्राय या तो सूर्य-प्रकाश के अवरोधक मेघ से है, या फिर निशा-कालिक अन्धकार से। सूर्य और उषस् के साथ जिन गायों का उल्लेख मिलता है, वे प्रातः कालिक सूर्य की किरणों का ही प्रतिरूप हैं, जो कि अपने कृष्णाभ आवास-स्थल से बाहर निकलती हैं। इस प्रकार इन्द्र का गोपतित्व भी सुप्रकट हो जाता है।

वृत्र और अहि के वध के अतिरिक्त अन्य अनेक उपाख्यान भी इन्द्र के सम्बन्ध में उपलब्ध होते हैं। 'शर्मा' की सहायता से उसने 'पणि' नामक दैत्यों द्वारा वन्दी बनाई गई गायों को छीन लिया था। 'उषस्' के रथ का विध्वंस, सूर्य के रथ के एक चक्र की चोरी, सोम-विजय आदि उपाख्यान भी प्राप्त हैं।

इन्द्र ने कम्पायमान भूतल और चलायमान पर्वतों को स्थिर बनाया है। चमड़े के समान उसने द्यावापृथिवी को फैला कर रख दिया है। जिस प्रकार एक धुरी से दोनों पहिये निकाल दिये जांय, उसी प्रकार उसने द्युलोक और पृथ्वी को पृथक् कर दिया है।

इन्द्र बड़े उग्र स्वभाव का है। स्वर्ग की शान्ति को भंग करने वाला वही एकमात्र देवता है। अनेक देवताओं से उसने युद्ध किया। उषस् के रथ को उसने भंग किया, सूर्य के रथ का एक चक्र उसने चुराया, अपने अनुयायी मरुतों को उसने मार डालने की धमकी दी। अपने पिता 'त्वष्टा' को उसने मार ही डाला।

अनेक दैत्यों को भी उसने पराजित और विनष्ट किया, जिनमें से वृत्र, अहि, शम्बर, रोहिण के अतिरिक्त उरण, विश्वरूप, अर्बुद, वल, व्यंश और नमुचि प्रमुख हैं। आर्यों के शत्रुभूत दासों अथवा दस्युओं को भी उसने युद्धों में पराभूत किया। कम से कम ५०००० अनार्यों का विनाश उसके द्वारा किया गया।

इन्द्र अपने पूजकों का सदा रक्षक, सहायक और मित्र रहा है। वह दस्युओं को बन्दी बना कर उनकी भूमि आदि अपने भक्तों में विभक्त कर देता है। आहुति-प्रदाता को वह धन-सम्पत्ति से मालामाल कर देता है। उसकी इस दानशीलता के कारण ही तो उसकी उपाधि 'मघवन्' (=ऐश्वर्यवान्) की सार्थकता है।

इन्द्र का अनेक ऐतिहासिक पुरुषों से भी साहचर्य उल्लिखित है। उसकी ही सहायता से दिवोदास ने अपने दास-शत्रु तथा कुलितर के पुत्र 'शम्बर' को पराजित किया। 'तूवर्शु' और 'यदु' को नदियों के पार उस इन्द्र ने ही पहुंचाया। दस नृपतियों के विरुद्ध युद्ध में राजा सुदास की उसने सहायता की।

इस प्रकार इन्द्र ऋग्वेद का सर्वप्रधान देवता है, जिसे मैक्समूलर सूर्य का वाची, रॉथ मेघों और विद्युत् का देवता, वेनफे वर्षाकालिक आकाश का प्रतीक, ग्रॉसमन उज्ज्वल आकाश का प्रतीक, हापकिन्स विद्युत् का प्रतिरूप और मैकडानल तथा कीथ आदि वर्षा का देवता मानते हैं।

प्रस्तुत संकलन में संगृहीत सूक्तानुसार इन्द्र का स्वरूप इस प्रकार है :—

आकार-प्रकार—इन्द्र बृहदाकार है। देवता और मनुष्य उसके सामर्थ्य की सीमा को नहीं पहुंच पाते। वह सुन्दर मुख वाला है।[1] उसका आयुध वज्र[2] अथवा शरु[3] है। उसकी भुजायें भी वज्रवत् पुष्ट एवं कठोर हैं।[4] वह सप्त-संख्यक पर्जन्य रूपी रश्मियों वाला एवं परम कीर्तिमान् है।[5]

महाबलशाली—'नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः'[6] कह कर स्वयं गृत्समद ऋषि ने उसके बलविक्रम का उद्घोष कर दिया है। पर्वत उससे थर-थर काँपते हैं।[7] द्यावा-पृथिवी अर्थात् वहाँ के लोग भी इन्द्र के बल से भय-भीत रहते हैं।[8] वह शत्रुओं की धन-सम्पत्ति को जीत कर उसी प्रकार अपने लक्ष्य की पूर्ति कर लेता है, जिस प्रकार एक आखेटक-कुक्कुरों की सहायता से मृगादिक का वध कर व्याध अपनी लक्ष्य-सिद्धि करता है अथवा विजय-प्राप्त जुआरी जिस प्रकार जीते हुए दाँव के धन को समेट कर स्वायत्त कर लेता है।[9] इतना ही नहीं वह शत्रुओं की पोषक समृद्धि को नष्टविनष्ट भी कर डालता है।[10] वह एक विकट योद्धा है और युद्ध में वृक् (=भेड़िया) के समान हिंसा करता है।[11] सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह 'मनस्वान्' (=मनस्वी) है।[12]

---

१. 'सुशिप्रः' (मंत्र ६)
२. 'वज्रबाहुः' (मंत्र १३)
३. 'शर्वा जघान' (मंत्र १०)
४. 'वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः' (मंत्र १३)
५. 'यो सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्' (मंत्र १२)
६. दे०—(मंत्र १)
७. 'शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते' (मंत्र १३)
८. 'यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेताम्' (मंत्र १)
९. 'श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमादद् अर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः' (मंत्र ४)
१०. 'सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति' (मंत्र ५)
११. 'सवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः' (मंत्र ३)
१२. 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (मंत्र १)

रक्षक एवं सहायक—इन्द्र अपने भक्तों का रक्षक, सहायक एवं मित्र है। कहा भी है कि—'यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरे :…………अविता'।[१] उसकी सहायता के बिना विजयलाभ असम्भव है।[२] इस लिये योद्धा-गण विजय के लिये और अपनी रक्षा के लिये उसका आवाहन करते हैं।[३] यह बात निम्नलिखित मंत्र से और भी स्पष्ट हो जाती है :—

'यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥'[४]

इन्द्र आर्यों को अनार्यों के विरुद्ध युद्ध में सहायता प्रदान कर उन्हें विजयी बनाता है। एतदर्थ वह दस्युओं का हनन[५] एवं अपने अपूजकों व विरोधियों का वध[६] करता है। वह जिस पर प्रसन्न हुआ, उसे समृद्ध और जिस पर अप्रसन्न हुआ, उसे कृश (=निर्धन) बना देता है।[७] उसके तत्तत् गुणों के प्रभाव से अश्व, गो, ग्राम एवं रथादि उसके वश में रहते हैं।[८] इस प्रकार वह निखिल विश्व का प्रतिनिधि है।[९] देवता तक उसकी कृपा के पात्र हैं।[१०]

अनेक सृष्टि-कार्यों का सम्पादक—इन्द्र ने अस्थिर पृथ्वी को स्थैर्य प्रदान किया है।[११] इधर-उधर उड़ते-फिरते पर्वतों के पङ्ख-छेदन कर इन्द्र ने ही उन्हें तत्तत् स्थान पर प्रस्थापित किया है।[१२] उसने द्यु-लोक को भी स्तब्ध किया[१३] और इस प्रकार अन्तरिक्ष का निर्माण किया[१४]। दो मेघों के मध्य में वैद्युत् अग्नि

---

१. दे०—(मंत्र ६)
२. 'यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो' (मंत्र ९)
३. 'यं युध्यमाना अवसे हवन्ते' (वही)
४. दे०—(मंत्र ८)
५. 'यो दस्योर्हन्ता' (मंत्र १०)
६. 'यः शश्वतो मह्येनो दधानान्, अमन्यमानाञ्छर्वाजघान' (वही)
७. 'यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य' (मंत्र ६)
८. 'यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो, यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः' (मंत्र ७)
९. 'यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव' (मंत्र ९)
१०. 'देवो देवान क्रतुना पर्यभूषत्' (मंत्र १)
११. 'यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहत्' (मंत्र २)
१२. 'यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्' (मंत्र २)
१३. 'योः द्यामस्तभ्नात्' (वही)
१४. यो अन्तरिक्षं विममे' (वही)

अथवा दो प्रस्तर-खण्डों के मध्य में सामान्य अग्नि का जनक इन्द्र ही है।[१] इन्द्र को सूर्य और उषा का उद्भावक भी कहा गया है।[२] वह अन्तरिक्ष-गत अथवा भूतलवर्ती जलों का प्रेरक है।[३] सम्भवत: हम इसी लिए उसे वर्षा का देवता मानते हैं। पृथ्वी को ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण लोकों को स्थिर करने वाला अथवा उन्हें रचने वाला भी इन्द्र से भिन्न कोई और नहीं है।[४] इससे 'उसने सभी पदार्थों को गतिमान बनाया' यह अर्थ ग्रहण करने पर भी इन्द्र का माहात्म्य नहीं घटता।

इन्द्र के वीरकर्म—इन्द्र ने भयवशात् पर्वतों में छिपे हुए 'शम्बर' नाम के दैत्य को ४० वें वर्ष (अथवा शरद् ऋतु की ४० वीं तिथि को) ढूँढ़ निकाला और उसका वध कर दिया।[५] बल-प्रदर्शन करने वाले 'अहि' नामक दानव का भी उसने संहार किया[६]। उक्त 'अहि' को मार कर इन्द्र ने सर्पणशील जलों को अथवा गंगा आदि सात नदियों को प्रवाहित किया[७]। हिंसार्थ स्वर्ग में चढ़ते हुए रौहिण असुर को भी इन्द्र ने अपने वज्र से मार डाला।[८] वल नामक दैत्य ने असंख्य गायों को अपने बाड़े में निरुद्ध कर रक्खा था। उन गायों को लोक-कल्याणार्थ बलपूर्वक बाहर निकालने का श्रेय इन्द्र को ही है।[९]

कुछ विद्वान् अहि-विनाश, वृत्र-वध, शम्बर-संहार एवं बल-विमर्दनादि का ऐक्यारोपण करके सूर्य रूप में इन्द्र द्वारा ध्रुवप्रदेशीय अन्धकार का नाश अथवा जलों को जमा देने वाली घोर सर्दी का विनाश अथवा अहिरूपी मेघों का विमर्दन करके जल-विमोचन अथवा बलरूपी मेघों से आच्छन्न सूर्य की किरण-रूपी गायों के विमुक्त किये जाने की कल्पना करते हैं, जो सत्य से अधिक दूर नहीं प्रतीत होता।

सोमपानकर्ता—'यः सोमपा'[१०] कह कर ऋषि ने इन्द्र की दुर्व्यसन-परता

---

१. 'यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान' (मंत्र ३)
२. 'यः सूर्यं य उशषं जजान' (मंत्र ७)
३. 'यो अपां नेता' (वही)
४. 'येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि' (मन्त्र ४)
५. 'यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्' (मंत्र ११)
६. 'ओजायमानं यो अहिं जघान' (वही)
७. 'यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्' (मन्त्र ३)
८. 'यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुः, द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः' (मन्त्र १२)
९. 'यो गा उदाजदपधा वलस्य' (मन्त्र ३)
१०. दे०—(मन्त्र १३)

की ओर भी इंगित किया है। 'सोम' इन्द्र का परमप्रिय पेय पदार्थ है। उसके बराबर कोई अन्य देवता सोम-पान नहीं कर सकता। 'सोम' उसे युद्धों के लिए शक्ति और स्फूर्ति प्रदान करता है।

सोम-सेवी होने के कारण इन्द्र को वे लोग परमप्रिय हैं, जो सोम का अभिषव करते हैं अथवा पका कर उसे सिद्ध करते हैं।[१] ऐसे लोगों की वह रक्षा करता है।[२] इतना ही नहीं, ऐसे प्रिय व्यक्तियों को वह धन-वैभव से पुरस्कृत भी करता है।[३]

पूजनीय—यह बात दूसरी है कि वह सोम-पायी है,[४] अपने अपूजकों का अपने आयुध वज्र से वध करता है[५], शूद्रों को अधोगति प्रदान करने वाला अथवा अपने अपूजकों को नरक प्रदान करने वाला[६] है, फिर भी वह अपने अन्य सद्‌गुणों के कारण सर्वथा पूजनीय है। द्यावापृथिवी के प्राणी उसे सदा नमन करते हैं।[७] लोग उससे यह प्रार्थना किया करते हैं कि 'हे इन्द्र ! सुन्दर पुत्र-पौत्रादि से युक्त होकर तथा तुम्हारे प्रियपात्र बने हुए हम सदा तुम्हारी प्रार्थना में तत्पर रहें[८]।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि इन्द्र वैदिक देवी-देवताओं में सर्वोपरि और सर्वोत्तम स्थान का अधिकारी है।

पुरुष

ऋग्वेद में सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी छः या सात सूक्त उपलब्ध होते हैं, जिनमें से किसी न किसी आदि तत्त्व से सृष्टि की रचना हुई बताई गई है। बहुचर्चित 'पुरुषसूक्त' में देवताओं द्वारा आदि पुरुष के शरीर-तत्त्व से सृष्टि-कर्म का किया जाना उल्लिखित है। इस सृष्टि-रचना-प्रक्रिया को यहाँ एक यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है, जिसमें हवि-रूपेण पुरुष के शरीर का ही प्रयोग किया गया। उसके शरीर के अंगों को पृथक्-पृथक् काटने से ब्रह्माण्ड के विविध अंग (=लोक) निर्मित हुए। यह भी ध्यातव्य है कि थोड़े हेर-फेर के साथ यह

१. 'यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं' (मन्त्र १४)
२. 'युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः' (मंत्र ६)
३. 'यः सुन्वते पचते ··· वाजं दर्दर्षि' (मंत्र १५)
४. 'यः सोमपा' (मंत्र १३)
५. 'अमन्यमानाञ्छर्वा जघान' (मंत्र १०)
६. 'यो दासं वर्णमधरं गुहाकः' (मंत्र ४)
७. 'द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते' (मन्त्र १३)
८. 'वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः, सुवीरासो विदथमावदेम' (मन्त्र १५)

सूक्त सामवेद में भी उपलब्ध होता है, शुक्ल यजुर्वेद में भी और अथर्ववेद में भी। भाषा, भाव और कथ्य की दृष्टि से यह सूक्त अपेक्षाकृत पर्याप्त उत्तरकाल की रचना प्रतीत होता है। इसमें स्तुत 'पुरुष' का स्वरूप एवंविध है :—

'पुरुष' का आकार-प्रकार—'पुरुष' को सहस्र शीर्ष, सहस्र नेत्र एवं सहस्र चरण वाला कहा गया है।[१] इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्माण्ड में जितने भी जीव हैं, उनके हाथ-पैर आदि 'पुरुष' के ही हाथ-पैर हैं, क्योंकि वे सब उसी में समाये हुए हैं। वस्तुतः 'पुरुष' का आकार ब्रह्माण्ड से भी बृहत्तर है।[२] वह सारे ब्रह्माण्ड को व्याप्त करने के बाद भी अवशिष्ट रह जाता है।[३] केवल वर्तमान सृष्टि का ही समावेश 'पुरुष' के तथाकथित विराट् शरीर में नहीं हैं, अतीत और अनागत सृष्टियाँ भी उसकी अंगभूता हैं।[४] सृष्टि में सबसे पहले उत्पन्न जिस तत्त्व को पुरुष कहा गया है[५], वह भी उस आदिपुरुष का ही अंशमात्र है।

'पुरुष' का द्विधा विभाजन—'पुरुष' का एक चौथाई भाग माया के कारण बार-बार उत्पन्न और विनष्ट हुआ करता है तथा उसका सम्बन्ध इहलोक से हैं।[६] उत्पन्न होते ही यह अंश जड़ और चेतन के रूप में पृथक्-पृथक् व्यवस्थित हो जाता है।[७] पुरुष का शेष तीन-चौथाई भाग तदपेक्षा अत्यधिक उत्कर्ष-युक्त है,[८] क्योंकि वह विनाश-रहित एवं अमरों के लोक में स्थित है।[९]

'पुरुष' ही सृष्टि-यज्ञ का प्रधान सम्बल—उत्तर सृष्टि की सिद्धि के लिये देवताओं, साध्यों और ऋषियों[१०] ने जो यज्ञ किया,[११] उसमें बाह्य द्रव्यों के अभाव के कारण 'पुरुष' को ही हवि के रूप में अवकल्पित किया गया।[१२]

---

१. 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' (मंत्र १)
२. 'अतो ज्यायांश्च पूरुषः' (मंत्र ३)
३ 'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्' (मंत्र १)
४. 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' (मंत्र २)
५. 'पुरुषं जातमग्रतः' (मंत्र ७)
६. 'पादोऽस्येहाभवत्पुनः' (मंत्र ४)
७. 'ततो विष्वङ्व्यक्रामत, साशनानशने अभि' (वही)
८. 'त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः' (वही)
९. 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (मंत्र ३)
१०. 'तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये' (मंत्र ७)
११. सायण और महीधर इसे मानस-यज्ञ, उव्वट आत्म-यज्ञ, दयानन्द सरस्वती ज्ञान-यज्ञ एवं मैकडानल आदि पुरुषमेध यज्ञ मानते हैं।
१२. 'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत' (मंत्र ६)

उस यज्ञ में वसन्त, ग्रीष्म और शरद् का क्रमशः घृत, ईंधन और हवि के रूप में प्रयोग किया गया[1]—इस कथन का मूल प्रयोजन यह है कि उक्त सृष्टि-यज्ञ के समनन्तर ही तीन ऋतुयें प्रवर्तित हो चलीं।

'पुरुष' से अनेकविध सृष्टि की उत्पत्ति—आदि पुरुष से विराट् और विराट् से क्षुद्र पुरुष (=जीव) उत्पन्न हुआ, जो कि उत्पन्न होते ही पृथ्वी में चारों ओर देव-तिर्यक्-मनुष्यादि के रूप में व्याप्त हो गया।[2] पशु-पक्षियों (=तिर्यक्) में से कुछ वायु-विहारी, कुछ अरण्यचारी और कुछ ग्राम्य पशु[3] (यथा—अश्व, अश्वतर = खच्चर और गधे, गो और भेड़-बकरी[4]) बने। मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बने, जिनका सम्बन्ध क्रमशः 'पुरुष' के मुख, भुजा, उरुदेश और चरणों से है।[5] इनकी आद्य भोज्य-सामग्री दधि-घृतादि भी उक्त 'पुरुष' से ही समुत्पन्न हुई।[6] देवताओं में से सूर्य, चन्द्र, इन्द्राग्नि और वायु आदि का सम्बन्ध 'पुरुष' के क्रमशः नेत्र, मन, मुख और प्राण आदि से है।[7] पूर्वोक्त देवतिर्यक्-मनुष्यादि के आवासहेतु कुछ लोकों का भी निर्माण अत्यावश्यक था, इस लिये 'पुरुष' के शीर्ष से द्यु-लोक (देवों के लिये), नाभि से अन्तरिक्ष (पक्षियों के उड़ने के लिये) और पैरों से भूमि (पशुओं और मनुष्यों के लिये) बनाई गई। इसी प्रकार 'पुरुष' के विविध अंगों से अन्य लोक भी बनाये गये।[8] जीवों की उत्पत्ति के बाद वाणी का भी प्रादुर्भाव हुआ, जो कि ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के रूप में संकलित हुई।[9]

---

१. 'वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः' (मंत्र ६)

२. 'तस्माद्विराडजायत, विराजोअधिपूरुषः, स जातो अतिरिच्यत' (मंत्र ५)

३. 'पशून्तांश्चक्रे वायव्यान् आरण्यान्ग्राम्याश्च ये' (मंत्र ८)

४. 'तस्मादश्वा अजायन्त' ये के चोभयादतः' गावो ह जज्ञिरे तस्मात्, तस्माज्जाता अजावयः' (मंत्र १०)

५. 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः, उरूतदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत' (मंत्र १२)

६. 'तस्याद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्' (मंत्र ८)

७. 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योअजायत, मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत' (मंत्र १३)

८. 'नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत, पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्' (मंत्र १४)

९. 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत' (मंत्र ९)

'पुरुष' का सर्वस्वामित्व—इस प्रकार सृष्टि-रचना-प्रक्रिया में अथवा उसके परे भी 'पुरुष' का अमित महत्व है। वह अमरों का भी स्वामी है और उन सबका भी, जो कि अन्नादिक पर निर्भर रहते हैं।[1]

(हिरण्यगर्भ) प्रजापति

ऋग्वेद के देवी-देवताओं के विषय में पढ़ कर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें एक परमात्मा का वर्णन ही अभीष्ट था, जिसके विविध नाम, रूप और क्रियायें हैं। देवताओं की विविधता होने पर भी ऋग्वेद में एकेश्वरवाद ही प्रतिष्ठित है, बहुदेवत्ववाद नहीं, क्योंकि प्रायः प्रत्येक देवता को समान गुणोपेत बतलाया गया है। (हिरण्यगर्भ) प्रजापति भी ऐसा ही एक देवता है।

प्रजापति का आविर्भाव—कल्पान्त में सुविस्तृत जलराशि सम्पूर्ण सृष्टि को समावृत कर लेती है, तब उसी में बीजरूपेण स्थित तथा देवताओं के प्राणस्वरूप 'प्रजापति' का नूतन-सृष्टि-सम्पादनार्थ आविर्भाव होता है।[2] सृष्टि के पूर्व उसकी विद्यमानता—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'[3] इस उल्लेख से भी द्योतित होती है। 'अग्रे' का अर्थ 'सृष्टि में सर्वप्रथम' करने पर भी उसकी सापेक्ष प्राग्भाविता पर आँच नहीं आती। वह कम से कम सृष्टि में समुत्पन्न सर्वप्रथम तत्व तो है ही।

उसका उत्पादकत्व—प्रजापति ही निखिल सृष्टि का उत्पादक है। एक स्थल पर कहा गया है कि प्रजापति ने अपनी महिमा से सर्वतः व्याप्त अप्रकेत सलिल (=प्रलयकालिक जलराशि) को इस योग्य बना दिया कि वह सृष्टिरूपेण वर्धिष्णु दक्षप्रजापति को गर्भवत् धारण करे और सृष्टि-समुत्पादिका ऊष्मारूपी अग्नि को उत्पन्न करे।[4] ईश्वररूपी प्रजापति के कामनारूपी रेतस् के बिना अप्रकेत सलिल रूपी क्षेत्र से सृष्ट्युत्पत्ति कथंचिदपि शक्य नहीं है। सृष्टि की आधारभूता उक्त जलराशि का भी उद्भावक ईश्वर-स्वरूप वह प्रजापति ही है।[5] वह जड़ और चेतन उभयविध जगत् का निर्माता है। पर्वत, समुद्र और

---

१. 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति' (मंत्र २)

२. आपो ह यद् बृहती विश्वमायन्, गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निं, ततो देवानां समवर्ततासुरेकः' (मंत्र ७)

३. दे०—(मंत्र १)

४. 'यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्, दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्' (मंत्र ८)

५. 'यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान' (मंत्र ९)

नदियों को उसकी महिमा बतलाने[१] का मूल प्रयोजन उन पर उसके कर्तृत्व को उद्भासित करना ही है। उसे 'आत्मदा'[२] कह कर यह प्रख्यापित किया गया है कि वह विविधरूप आत्माओं का जनक अथवा उन्हें गति प्रदान करने वाला है। बिना स्फुरण और गति के जीवजगत् भी तो जड़ जगत्वत् ही रहेगा। इस लिये प्रजापति को 'बलदा'[३] कह कर उक्त संशय की स्थिति का निराकरण कर दिया गया है।

जड़ और जीव उभयविध जगत् के आधारभूत लोकों का निर्माता भी, प्रजापति ही है। जिसने पृथ्वी को भी बनाया है और द्युलोक को भी।[४] इसी बात को अधिक विस्तारपूर्वक अन्यत्र इस प्रकार कहा गया है कि 'उसने द्युलोक एवं उद्गूर्ण विशेष पृथ्वी को दृढ़ बनाया है, स्वर्गलोक और नाकलोक को स्तब्ध बनाया है तथा शून्य में अयनगति करने वाले अन्य अनेक लोकों को निर्मित किया है अथवा उन्हें भली प्रकार नाप लिया है।[५]

उसका व्यापकत्व और धारकत्व—ईश्वररूप प्रजापति सब में व्याप्त है। स्वनिर्मित लोकों में उसका व्यापकत्व स्वतःसिद्ध है। वर्तमान जगत् ही नहीं भूत भगत् को भी उसने व्याप्त कर रक्खा है। यह सामर्थ्य केवल उसमें है, किसी अन्य देवता में नहीं।[६] उसके द्वारा द्यु-लोक और पृथिवी लोक के दृढ़ बनाये जाने एवं स्वर्गलोक तथा नाकलोक के स्तब्ध बनाये जाने के उपयुक्त उल्लेख[७] से भी उसकी धारिका शक्ति संकेतित होती है। एक स्थल पर उसे स्पष्टतः पृथ्वी, आन्तरिक्ष और द्युलोक का धारक कहा गया है।[८] वह सूर्य का भी आधार है। उसे आधार बना कर ही सूर्य उदित होता और प्रकाश फैलाता है।[९]

उसका अधिपतित्व—प्रजापति प्राणधारियों का एक मात्र अधिपति है।

---

१. 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्रं रसया सहाहुः' (मंत्र ४)
२. दे०—(मंत्र २)
३ दे०—वही
४. 'जनिता यः पृथिव्या, यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान' (मंत्र ९)
५. 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा, येन स्वः स्तभितं येननाकः, यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः' (मंत्र ५)
६. 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव' (मंत्र १०)
७. दे०—(मंत्र ५)
८. 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां' (मंत्र १)
९. 'यत्राधि सूर उदितो विभाति' (मंत्र ६)

वह मनुष्यादि द्विपद एवं अश्वादि चतुष्पद जीवों का स्वामी है ।[१] प्रणियों के जन्म और मृत्यु दोनों ही उसके अधिकार में हैं ।[२] मनुष्य तो क्या देवता भी उसके शासन को मानते हैं ।[३] उसका प्रभाव इतना है कि द्युलोक और पृथ्वीलोक के निवासी मन ही मन उससे काँपते रहते हैं ।[४] जीवधारियों, देवताओं और विविध लोकों पर ही उसका आधिपत्य नहीं है, वह दिशाओं और विदिशाओं का भी स्वामी है ।[५] प्रस्तुत सूक्तगत प्रथम मंत्र की यह प्रतिज्ञा ही उसके प्रभुत्व का उद्घोष करती है कि 'वह सम्पूर्ण समुत्पन्न सृष्टि का एकमात्र अधिपति था' ।[६]

उसकी पूजनीयता—प्रजापति सबके लिये पूजार्ह है । हम बाधाओं से मुक्ति हेतु,[७] कामनाओं की पूर्ति के लिये और धन-समृद्धि के लाभार्थ उसकी प्रार्थना-अर्चना करते हैं ।[८] देखा जाय तो सभी देवताओं के मध्य केवल वह ही हमारी यज्ञाहुति का अधिकारी है ।[९]

वाक्

ऋग्वेद में अध्यात्म-सम्बन्धी सूक्त अत्यल्प हैं । प्रस्तुत वाक् सूक्त उनमें से एक है । इस सूक्त में वाक् ही 'ऋषि' है, वाक् ही 'देवता' । सायणादि ने ब्रह्म से साक्षात्कार-पूर्वक तादात्म्य स्थापित कर लेने वाली अम्भृण-दुहिता वाक् नाम्नी ऋषिका द्वारा स्व-स्वरूप ब्रह्म का स्तवन यहाँ स्वीकारा है ।[१०] वाक् को ब्रह्म की शब्दात्मिका शक्ति मानना अनुचित न होगा । उसका स्वरूप इस प्रकार है :—

ब्रह्म स्वरूपत्व—'वाक्' ब्रह्मज्ञानवती है[११], इसलिए साक्षात्कारपूर्वक उससे

---

१. 'यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इन्द्राजा जगतो बभूव । य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः—'

२. 'यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः' (मंत्र २)

३. यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्यदेवाः' (मंत्र २)

४. यं क्रन्दसी·········मनसा रेजमाने' (मंत्र ६)

५. 'यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू' (मंत्र ४)

६. 'भूतस्य जातः परिरेक आसीत्' (मंत्र १)

७. 'मानो हिंसीत्' (मंत्र ९)

८. 'यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु, वयं स्याम पतयो रयीणाम' (मंत्र १०)

९. 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (प्रायः प्रत्येक मंत्र का अन्तिम चरण)

१०. दे०—सम्बन्धित सायण-भाष्य

११. 'अहं···चिकितुषी' (मंत्र ३)

तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण वह ब्रह्म-स्वरूपा भी है। उसका स्वरूप पृथ्वी से भी परे हैं, द्युलोक से भी।[1] वह अपने विराट् रूप शरीर से दृश्यमान द्युलोक तक को आच्छादित कर लेती है।[2]

सर्व-प्रभुत्व—ब्रह्मरूपा होने के कारण वह सम्पूर्ण सृष्टि की एकमात्र स्वामिनी है।[3] वह वायु के समान अबाध गति से तथा स्वेच्छापूर्वक प्रवर्तित होती है।[4] वह जिसे चाहती है, उसे बलशाली, ब्रह्मतेजा, तपश्शील और मेधावी बना देती है।[5] कुछ लोग यहाँ प्रयुक्त तत्तत् पदों से क्रमशः क्षत्रिय, ब्राह्मण, शूद्र और वैश्य का वर्ण-निर्धारण 'वाक्' द्वारा किया जाना स्वीकारते हैं।

सर्वोत्पादकत्व—ब्रह्म से ही सम्पूर्ण-सृष्टि की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म-स्वरूपा वाक् ने पृथ्वी को और फिर उसके शीर्ष के ऊपर उसके पितृवत् रक्षा-कारक द्युलोक को उत्पन्न किया है।[6] यह तो कहने का एक लाक्षणिक प्रयोग है, जिसमें मानवी और दैवी लोकों के निर्माण की ओर संकेत किया गया है। वस्तुतः 'वाक्' समग्र लोकों की समुत्पादिका है।[7] कुछ लोग यहाँ वाक् द्वारा सभी लोकों के गतिमान् बनाये जाने का अर्थ प्रस्तुत करते हैं।

सर्वान्तर्व्यापकत्व—'वाक्' द्यावापृथिवी अर्थात् सभी दैवी-मानवी लोकों में व्याप्त है[8]। जीवरूप में वह समुद्रवर्ती अर्थात् प्रलयकालिक अप्रकेत सलिल से उत्पन्न होती है[9] और इस प्रकार उत्पन्न होकर सम्पूर्ण लोकों में विविध रूप से व्याप्त हो जाती है।[10] इस प्रकार जीवरूप से सभी प्राणियों में प्रविष्ट वह सर्वत्र विद्यमान है।[11] सभी प्राणियों में भोजन, दर्शन, श्रवण और श्वास-धारण का जो सामर्थ्य है, वह वाक् की ही शक्ति है।[12]

---

१. 'परो दिवा पर एना पृथिव्या, एतावती महिना संबभूव' (मंत्र ८)
२. '—उतेमां द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि' (मंत्र ७)
३. 'अहं राष्ट्री—' (मंत्र ३)
४. 'अहमेव वात इव प्रवामि' (मंत्र ८)
५. 'यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्' (मंत्र ५)
६. 'अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्' (मंत्र ७)
७. 'आरभमाणा भुवनानि विश्वा' (मंत्र ८)
८. 'अहं द्यावापृथिवी आ विवेश' (मंत्र ६)
९. 'मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे' (मंत्र ७)
१०. 'ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वा' (वही)
११. 'तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा, भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्' (मंत्र ३)
१२. 'मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति, यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्' (मंत्र ४)

लोकोपकारकत्व—ब्रह्म-विद्वेषी हिंसकों अथवा समाजोत्पीड़कों के संहार के लिए 'वाक्' ही रुद्र के धनुष को तान देती है[१] अर्थात् उस काम के लिए रुद्र की प्रेरणास्वरूपा वाक् ही है। लोकहित के लिए वह अनेक अशुभ शक्तियों से युद्ध करती है।[२]

सर्वदेवरूपत्व—सभी देवी-देवता ब्रह्मस्वरूपा 'वाक्' के ही विविध रूप अथवा उसकी ही विभिन्न शक्तियाँ हैं। वह ही रुद्रों और वसुओं के रूप में संचरण करती है, वह ही आदित्यों और विश्वदेवों के रूप में।[३] मित्रवरुण, इन्द्र-अग्नि और दोनों अश्विनीकुमार उसके ही अंगभूत हैं।[४] शत्रु-संहारक सोम देवता भी उसका ही स्वरूप है तथा त्वष्टा, पूषा और भग नामक देवता भी।[५] इस प्रकार यज्ञ के भागी समस्त देवताओ में वह प्रथम-स्थानीय है।[६]

दातृत्व—अन्य देवताओं की भाँति 'वाक्' में दानशीलता का गुण भी विद्यमान है। वह हवि-प्रदान करने वाले एवं सोम का अभिषव करने वाले यजमान को रक्षणीय समझती है और उसे विविध रूप धन-सम्पत्ति प्रदान करती है।[७] अपने भक्तों को धन प्राप्त कराना उसका विशिष्ट गुण है।[८]

पृथिवी

पृथिवी का आविर्भाव—पृथ्वी पहले समुद्र के जल के भीतर थी।[९] मनीषीजनों ने उसे अपने बल-विक्रम से उपलब्ध कर लिया।[१०] उसका सत्यसमावृत और अनश्वर हृदय परम व्योम में स्थित है।[११]

पृथिवी के धारक तत्त्व—सत्य, महनीयता, ऋत, उग्रता, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ—ये आठ पृथिवी को धारण करते हैं।[१२] आशय यह है कि जब

१. 'अहं रुद्राय धनुरा तनोमि, ब्रह्मऽद्विषे शरवे हन्तवा उ' (मंत्र ६)
२. 'अहं जनाय समदं कृणोमि' (वही)
३. 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः' (मन्त्र १)
४. 'अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा' (वही)
५. 'अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्' (मन्त्र २)
६. 'अहं'''प्रथमा यज्ञियानाम्' (मन्त्र ३)
७. 'अहं दधामि द्रविणं हविष्मते, सुप्राव्ये यजमानायसुन्वते' (मंत्र २)
८. 'अहं'''संगमनी वसूनाम्' (मंत्र ३)
९. 'यार्णवेधि सलिलमग्र आसीत्' (मंत्र ८)
१०. 'या मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः' (वही)
११. 'यस्या हृदयं परमे व्योऽमन्, सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः' (वही)
१२. 'सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो, ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति' (मंत्र १)

तक ये गुण पृथ्वी पर विद्यमान हैं तब तक पृथ्वी टिकी रहती है; इनके अभाव में वह पुनः जलमग्न हो जाती है।

पृथिवी का प्राकृत रूप—पृथ्वी का कुछ भाग स्थलमय है तो कुछ जलमय। उसमें बहुत से ऊँचे-नीचे और समतल स्थलीय भाग हैं, जो सर्वथा बाधा-रहित हैं।[१] उसमें समुद्र, नदियाँ तथा अन्य जलाशय भी हैं।[२] उसे अनेक धाराओं से युक्त कहा गया है।[३] उस पर चारों ओर संचरण करने वाला जल समभावेन अबाध गति से बहा करता है।[४] यहाँ पर प्रयुक्त 'क्षरन्ति' पद से निर्झर आदि का ग्रहण किया जा सकता है। पृथ्वी पर हिम से ढके पर्वत भी हैं और सामान्य ऊँचाई वाले गिरि भी।[५] वहाँ पर अरण्य[६] भी प्राप्त हैं। पृथ्वी का वर्ण कहीं बभ्रु, (=भूरा), कहीं काला तो कहीं रक्ताभ है।[७] उसे अनेक रूप वाली कहा गया है[८] तथा उसका भूमि-तल परम स्थिर है।[९]

पृथ्वी-सम्बन्धी पुराकथायें—पृथ्वी को अश्विनीकुमारों ने नापा था[१०], ऐसी कथा प्रचलित है। ये दोनों अश्विनीकुमार सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के बाद की सन्धि-वेलाओं के ही प्रतीक हैं। इन दोनों के मध्यकाल में ही पृथ्वी प्रकाशपूर्ण रहती है, शेष समय में तमसावृत। इसे ही पृथ्वी की मापन-क्रिया माना जा सकता है। पृथ्वी पर विष्णु ने अपना एक डग भरा था[११], इस आख्यान को भी सूर्य द्वारा अन्य लोकों की भाँति पृथ्वी को भी आलोकित किए जाने का प्रतीक-वाक्य माना जा सकता है। मुख्य लोक तीन ही माने भी जाते हैं। तीनों लोकों को एकैकशः आलोकित करने के कारण सूर्य-स्वरूप विष्णु द्वारा तीनों लोकों को एक-एक पद-क्रम (=डग) से नाप लेने की कथा प्रचलित हो

---

१. 'असंबाधं'''यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु' (मंत्र २)
२. 'यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो' (मंत्र ३)
३. 'सा नो भूमिर्भूरिधारा—' (मंत्र ९)
४. 'यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति' (वही)
५. 'गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तो—' (मंत्र ११)
६. 'अरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु' (वही)
७. 'बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं—' (मंत्र ११)
८ 'विश्वरूपां' (वही)
९. 'ध्रुवां भूमिं' (वही)
१०. 'यामश्विनावभिमातां' (मंत्र १०)
११. 'विष्णुर्यस्यां विचक्रमे' (वही)

चली। शचीपति इन्द्र ने अपने ही हितार्थ पृथ्वी को शत्रुओं से रहित बना दिया,[१] ऐसी भी मान्यता है। 'शची' का अर्थ 'शक्ति' होता है। यदि किसी शक्तिशाली नृपति द्वारा अपने राज्य के विस्तार हेतु शत्रुओं को पराजित कर खदेड़ दिया गया हो, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? पृथ्वी पर देवताओं द्वारा असुरों का पराजय-पूर्वक समुत्सारण[२] आर्यों द्वारा अनार्यों को हरा कर भगा देना अथवा सत्याश्रयी जनों की असत्याचरणशील जनों पर विजय का संसूचक है। इस पृथ्वी पर हमारे प्राचीन पूर्वजों ने अनेक पराक्रम-युक्त कर्म किये थे।[३]

पृथिवी का त्रिकाल-वर्तित्व—पृथ्वी को भूत (=अतीत) और भव्य (=अनागत) की पत्नी कहा गया है।[४] इस प्रकार यह प्रकट होता है कि पृथ्वी के इस वर्तमान स्वरूप के अतिरिक्त उसका भूतकाल में भी अस्तित्व था और वह भविष्य में भी रहेगी।

पृथिवी की उत्पादन-शक्ति—पृथ्वी पर ऐसी अनेक ओषधियाँ प्रादुर्भूत होती है, जो बड़ी शक्तिशालिनी और प्रभाववती होती हैं।[५] इसमें अन्न और अन्यविध कृषि का उत्पादन बड़ी सुकरता से होता है।[६]

विविध प्राणधारियों की आश्रयभूता पृथिवी—पृथ्वी चारों ओर से मनुष्यों से व्याप्त है।[७] उस पर मनुष्यादि 'द्विपद' ही नहीं, अनेक 'चतुष्पद' (=चौपाये पशु) भी निवास करते हैं।[८] इसमें श्वासोच्छ्वास-निरत एवं गतिशील प्राणी आनन्दपूर्वक रहते हैं[९]—इस कथन से अन्य अनेक जीवधारियों का संकेत ग्रहण किया जा सकता है। प्राण-धारण और गति करने वाले प्राणियों का अन्यत्र उल्लेख भी मिलता है।[१०]

---

१. 'इन्द्रो यां चक्र आत्मनेनमित्रां शचीपतिः' (वही)
२. 'यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्' (मंत्र ५)
३. 'यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे' (वही)
४. 'सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी—' (मंत्र १)
५. 'नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति' (मंत्र २)
६. 'यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः' (मंत्र ३; मंत्र ४)
७. 'असंबाधं मध्यतो मानवानां' (मन्त्र २)
८. 'त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः' (मंत्र १५)
९. 'यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्' (मंत्र ३)
१०. 'या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्' (मंत्र ४)

एक वैशिष्ट्य यह भी है कि पृथ्वी पर संचरण-शील प्राणी इसी पर उत्पन्न भी होते हैं।[१]

हमारी माता-तुल्य पृथिवी—'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या'[२] कह कर प्रस्तुत सूक्त के ऋषि ने मनुष्य और पृथ्वी के पारस्परिक सबन्ध की बड़ी मधुर कल्पना प्रस्तुत की है। पृथ्वी मनुष्य को अपना सुस्वादु जल उसी प्रकार वितरित करती है, जिस प्रकार माता अपने औरस् पुत्र को अपना दुग्धपान कराती है।[३] पाद-विक्षेपणादि न करने वाली अचपल (अर्थात् सीधे-सादे स्वभाव वाली) गाय के समान वह सहस्र धाराओं में धन को हमारे लिए दुह देती है।[४]

वह सबकी समानरूप से उपकारकर्त्री है। माँ को अपने सभी बच्चे प्यारे होते हैं। इसी प्रकार पृथिवी भी स्थान, भाषा, वर्ण, लिंग आदि के भेद से कभी पक्षपात नहीं करती। वह विविध भाषा-भाषी, विभिन्न धर्मावलम्बी और स्वेच्छानुसार मनचाहे स्थान पर अपने-अपने आवास-गृह बना कर रहने वाले सभी लोगों को धारण करती है।[५]

पृथिवी से सम्बन्धित पर्जन्य और सूर्य आदि की कृपा के अधिकारी भी सभी मनुष्य हैं। 'पर्जन्य' को तो मनुष्य का पिता-तुल्य कल्पित किया गया है, जो कि जल-वृष्टि आदि से लोगों को धन-धान्य से भरा-पूरा बना देता है।[६] उदीयमान सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा अमृतरूपी ज्योति का विस्तार सभी मनुष्यों के लिए करता है, क्योंकि सभी पृथिवी के ही अपने हैं।[७]

दानशीला पृथिवी—पृथ्वी सतत लोकोपकारिका है। लोग उसके सौजन्य के कारण ही उससे गाय, अश्व, पक्षी, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य और वर्चस्विता की याचना करते हैं[८], तो कभी गाय आदि पशुओं और अन्नादि धान्य-सम्पत्ति

१. 'त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्' (मंत्र १५)
२. दे०—मंत्र १२
३. 'सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः' (मंत्र १०)
४. 'सहस्रं धारा द्रविणं मे दुहां, ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती' (मंत्र ४५)
५. 'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं, नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्' (मंत्र ४५)
६. 'पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु' (मंत्र १२)
७. 'तवेमे पृथिवी पञ्च मानवा येभ्यो, ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन् सूर्यो रश्मिभिरातनोति' (मन्त्र १५)
८. 'गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नोदधातु' (मंत्र ५)

की[1]। किसी की कामना यह रहती है कि पृथ्वी उसे अपने मध्य भाग में, नाभि-भूत स्थल में तथा ऊर्जा-युक्त स्थान में स्थापित कर दे[2] ताकि वह अजित, अहिंसित और अक्षत रह कर पृथ्वी पर अधिष्ठित बन सके।[3] पृथ्वी से तेज, बल और उत्तम राष्ट्र में स्थिति के हित प्रार्थना तो प्राय: की जाती है।[4] संक्षेप में यह कि पृथिवी सदा से ही हमारे लिए सुखी जीवन-प्रदायिनी रही है, वह वैसी ही बनी रहे[5]—यह हमारी प्रार्थना है।

---

१. 'सा नोभूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु' (मन्त्र ४)
२. 'यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं, यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः। तासु नो धेह्यभि नः पवस्व' (मन्त्र १२)
३. 'अजीतोहतो अक्षतोध्यष्ठां पृथिवीमहम्' (मन्त्र ११)
४. 'सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे' (मन्त्र ८)
५. 'सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु' (मन्त्र ३)

संकेत-लिपि

अ० वे०; अथर्व०	= अथर्ववेद
अनु०	= अनुक्रमणिका
आश्व० श्रौ० (सू०)	= आश्वलायन श्रौतसूत्र
आप्टे०	= वी० एस० आप्टे कृत शब्दकोश
आत्मने०	= आत्मनेपद-क्रियाएँ
उ०, उ० सू०, उणा०	= उणादि सूत्र (दयानन्द सरस्वतीकृत भाष्यसहित)
ऋ०, ऋग्०	= ऋग्वेद
ऋ० भा० भू०	= ऋग्वेद भाष्य भूमिका (दयानन्द सरस्वती कृत)
ऐ० आ०	= ऐतरेय आरण्यक
क० उ०, कठो०	= कठोपनिषद्
केनो०	= केनोपनिषद्
क्रि० वि०	= क्रिया विशेषण
गेल्ड०	= गेल्डनर नामक विद्वान्
ग्रॉस०	= ग्रॉस्मन नामक विद्वान्
घाटे०	= घाटेज़ लेक्चर्स आन दि ऋग्वेद
(पं०) चट्टो०	= पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय
छा० उ०	= छान्दोग्य-उपनिषद्
तुल०	= तुलना करिये
तै० आ०	= तैत्तिरीय-आरण्यक
तै० उ०	= तैत्तिरीय-उपनिषद्
तै० ब्रा०	= तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	= तैत्तिरीय संहिता
दया०	= दयानन्द सरस्वती नामक भाष्यकार
दा० सा०	= श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
दे०	= देखिये
निघं०	= निघण्टु नामक ग्रन्थ (यास्ककृत)
निरु०	= निरुक्त नामक ग्रन्थ (यास्ककृत)
परस्मै०	= परस्मैपद-क्रियाएँ
पा०	= पाणिनि कृत अष्टाध्यायी

पाठा०	= पाठान्तर
पिं०	= पिंगल सूत्र
पीट०	= पीटर्सन नामक विद्वान्
पृ०	= पृष्ठ
बहु०	= बहुव्रीहि समास
ब्लूम०	= ब्लूमफील्ड नामक विद्वान्
भ० गी०, गीता	= भगवद्गीता
मही०	= महीधर नामक भाष्यकार
मैक०	= मैकडानल नामक विद्वान्
मैक्स०	= मैक्समूलर नामक विद्वान्
मैत्रा० सं०	= मैत्रायणी संहिता
यजु०	= यजुर्वेद
यजु० भा०	= यजुर्वेद भाष्य (दयानन्द सरस्वती कृत)
लुड०	= लुडविग
व०	= वचन
वा०	= वार्त्तिक
बृहद्दे०	= बृहद्देवता नामक ग्रन्थ
वें० मा०	= वेंकट माधव नामक भाष्यकार
वै० ए०	= द वैदिक एटिमॉलॉजी (डा० फतेहसिंह कृत)
वै० री०	= वैदिक रीडर (मैकडानल कृत)
स० प्र०, सप्र०	= सत्यार्थ प्रकाश (दयानन्द सरस्वती कृत)
सा०	= आचार्य सायण नामक भाष्यकार

विशेष—ऋग्वेद के मण्डलों, सूक्तों और ऋचाओं को सूक्ष्मरूपेण इस प्रकार संकेतित किया गया है :—

(१) १।१५४ = प्रथम मण्डल का १५४ वाँ सूक्त

(२) १।१५४।६ = प्रथम मण्डल के १५४ वें सूक्त का छठा मन्त्र (= ऋचा)

॥ श्रीः ॥

वेद-सञ्चयनम्

(वैदिकसूक्त-सङ्कलन)

अग्निसूक्तम्

(ऋग्० १।१)

[इस सूक्त के ऋषि-'विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा' देवता-'अग्नि' एवं छन्द-'गायत्री' हैं ।]

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् ।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥ १ ॥

पदपाठ—अ॒ग्निम् । ई॒ळे॒ । पु॒रःऽहि॑तम् । य॒ज्ञस्य॑ दे॒वम् । ऋ॒त्विज॑म् ।
होता॑रम् । र॒त्न॒ऽधात॑मम् ॥ १ ॥

सायणभाष्यम्—'अग्निमीळे' इति सूक्तं प्रातरनुवाक आग्नेये क्रतौ विनियुक्तम् । स विनियोग आश्वलायनेन चतुर्थाध्यायस्य त्रयोदशे खण्डे सूत्रितः—'अवा नो अग्न इति पळग्निमीळेऽग्निं दूतम्' इति । तत्र हीनपादग्रहणात् सूक्तनिश्चयः । 'सूक्तं सूक्तादौ हीने पादे' (आश्व० श्रौ० १।१) इति परिभाषितत्वात् । तस्मिन् सूक्ते प्रथमाया ऋचो द्वितीयस्यां पवमानेष्टौ स्विष्टकृतो याज्यात्वेन विनियोगः । स च द्वितीयाध्यायस्य प्रथमखण्डे सूत्रितः—'साह्वान् विश्वा अभियुजोऽग्निमीळे पुरोहितमिति संयाज्ये' इति । तत्र कृत्स्नपादग्रहणात् ऋगित्यवगम्यते । 'ऋचं पादग्रहणे' (आश्व० श्रौ० १।१) इति परिभाषितत्वात् । तथा 'संयाज्ये प्रत्युक्ते सौविष्टकृती प्रतीयात् (आश्व० श्रौ० २।१) इति परिभाषितत्वात् स्विष्टकृत्सम्बन्धनिश्चयः । तत्रापि द्वितीयमन्त्रत्वेनोदाहृतत्वात् याज्यात्वम् । यद्यपि साह्वानित्यनया पुरोनुवाक्ययैव देवताया अनुस्मरणरूपसंस्कारः सिद्धस्तथापि याज्यापुरोनुवाक्ययोः समुच्चयो द्वादशाध्याये चतुर्थपादे मीमांसितः—

पुरोनुवाक्यया याज्या विकल्प्या वा समुच्चिता ।
विकल्प्यान्यतरेणैव देवतायाः प्रकाशनात् ॥

पुरोनुवाक्यासमाख्यानादवचनाच्च समुच्चयः । देवताप्रकाशनकार्यस्यैकत्वात् । युग्मयोर्यथा विकल्प्यस्तथैवैकयुग्मतयोरिति चेत्, मैवम् पुरोनुवाक्येति

समाख्याया उत्तरकालीनयाज्यामन्तरेणानुपपत्तेः किंच 'पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति' इति प्रत्यक्षवचनेन देवतोपलक्षणहविष्प्रदानकार्ये भेदोक्तिपुरस्सरसाहित्यं विधीयते । तस्मात् समुच्चय इति ।

एतच्चाग्निमित्यादिसूक्तं नवमर्चं 'अग्निं नव मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' इत्यनुक्रमणिकायामुक्तत्वात् । विश्वामित्रपुत्रो मधुच्छन्दो नामकस्तस्य सूक्तस्य द्रष्टृत्वात् तदीय ऋषिः । 'ऋष गतौ' इति धातुः । 'सर्वधातुभ्य इन्' (उ० सू० ४।५५७) इगुपधात् कित् (उ० सू० ४।५५९) । वेदप्राप्त्यर्थं तपोऽनुतिष्ठतः पुरुषान् स्वयंभूर्वेदपुरुषः प्राप्नोत् । तथा च श्रूयते—'अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत् तदृषयोऽभवन्' (तै० आ० २।९) इति । तथातीन्द्रियस्य वेदस्य परमेश्वरानुग्रहेण प्रथमतो दर्शनात् ऋषित्वमित्यभिप्रेत्य स्मर्यते—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥ इति ॥

ऋष्यादिज्ञानाभावे प्रत्यवायः स्मर्यते—

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च ।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः ॥
ऋषिच्छन्दो दैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि ।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते ॥ इति ॥

वेदनविधिश्च स्मर्यते—

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा विनियोगोऽर्थ एव च ।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे ॥ इति ॥

अग्निमित्यादिसूक्तस्य छन्दोऽनुक्रमणिकायां यद्यप्यत्र नोक्तं तथापि परिभाषायामेवमुक्तम् । 'आदौ गायत्रं प्राग्घिरण्यस्तूपात्' (अनु० १२।१४) इति । हिरण्यस्तूपऋषिर्येषां मन्त्राणां वक्ष्यते ततः प्राचीनेषु मन्त्रेषु सामान्येन गायत्रं छन्द इत्यर्थः । पुरुषस्य पापसम्बन्धं वारयितुमाच्छादकत्वाच्छ इत्युच्यते । तच्चारण्यकाण्डे समाम्नायते—छादयन्ति ह वा एनं छन्दांसि पापात्कर्मणः' (ऐ० आ० २।५) इति । अथवा चीयमानाग्निसंतापस्याच्छादकत्वाच्छन्दः । तत्र तैत्तिरीया आमनन्ति—'प्रजापतिरग्निमचिनुत स क्षुरपविर्भूत्वातिष्ठत् तं देवा बिभ्यतो नोपायन्ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' (तै० सं० ५।६।६।१) इति । यद्वा अपमृत्युं वारयितुमाच्छादयतीति छन्दः । तदपि छान्दोग्योपनिषद्याम्नातं—'देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरात्मानमच्छादयन् यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' (छा० उ० १।४।२) इति । तथा द्योतनार्थं दीव्यतिधातुनिमित्तो देवशब्द इत्येतदाम्नायते—'दिवा वै नोऽभूदिति तद्देवानां देवत्वम्' इति । अतो दीव्यतीति देवः । मन्त्रेण

द्योतते इत्यर्थः। अस्मिन्सूक्ते स्तूयमानत्वादग्निर्देवः। तथाचानुक्रमणिकायामुक्तम्–'मण्डलादिष्वाग्नेयमैन्द्रात्' (अनु० १२।१२) इति तस्य सूक्तस्य प्रथमामृचं भगवान् वेदपुरुष आह—

अग्निमीळ इति। अग्निनामकं देवम् ईडे स्तौमि। 'ईड स्तुतौ' इति धातुः। डकारस्य ळकारो बह्वृचाध्येतृसंप्रदायप्राप्तः। तथा च पठ्यते—

"अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः।
अज्मध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं वै यथाक्रमम्॥" इति।

मंत्रस्य होत्रा प्रयोज्यत्वादहं होता—स्तौमीति लभ्यते। कीदृशमग्निम्। यज्ञस्य पुरोहितम्। यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं सम्पादयति, तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं सम्पादयति। यद्वा। यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितम्। पुनः कीदृशम्। देवं दानादिगुणयुक्तम्। पुनः कीदृशम्। होतारम् ऋत्विजम्। देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव। तथा च श्रूयते 'अग्निर्वै देवानां होता' (ऐ० ब्रा० ३।१४) इति। पुनरपि कीदृशम्। रत्नधातमम् यागफलरूपाणां रत्नानामतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा।

अत्राग्निशब्दस्य यास्को बहुधा निर्वचनं दर्शयति (नि० ७।१४)–'अथातोऽनुक्रमिष्यामः। अग्निः पृथिवीस्थानः, तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। अग्निः कस्मात्? अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः, न क्नोपयति न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः–इताद् अक्ताद् दग्धाद् वा नीतात्, स खल्वेतेरकारमादत्ते, गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा, नीः परः। तस्यैषा भवति—

'अग्निमीळे' इति। अस्यायमर्थः–सामान्येन सर्वदेवतानां लक्षणस्याभिहितत्वादनन्तरं यतः प्रतिपदं विशेषेण वक्तव्यमाकाङ्क्षितमतोऽनुक्रमेण वक्ष्यामः। तत्र पृथिवीलोके स्थितोऽग्निः प्रथमं व्याख्यास्यते। कस्मात् प्रवृत्तिनिमित्तादग्निशब्देन देवताभिधीयत इति प्रश्नस्य 'अग्रणीरि'त्यादिकमुत्तरम्। देवसेनामग्रे स्वयं नयतीत्यग्रणीः। एतदेकमग्निशब्दस्य प्रवृत्तनिमित्तम्।

तथा च ब्राह्मणान्तरम्–'अग्निर्वै देवानां सेनानीः' इति। एतदेवाभिप्रेत्य बह्वृचामंत्रब्राह्मणे आमनन्ति–'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्' (ऐ० ब्रा० १।४) इति मंत्रः। अग्निर्वै देवानामवमः' (ऐ० ब्रा० १।१) इति ब्राह्मणम्।

तथा तैत्तिरीयाश्चामनन्ति–'अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्' (तै० ब्रा० २।४।३।३)। 'अग्निरवमो देवतानाम्' (तै० सं० ५।५।१।४) इति च। वाजसनेयिनस्त्वेवमामनन्ति–'स वा एषोऽग्रे देवतानामजायत तस्मादग्निर्नाम' इति। यज्ञेष्वग्निहोत्रेष्टिपशुसोमरूपेष्वग्रं पूर्वदिग्वर्त्याहवनीयदेशं प्रति गार्हपत्यात् प्रणीयत इति द्वितीयं प्रवृत्तिनिमित्तम्। सन्नममानः सम्यक् स्वयमेव

प्रह्वीभवन्नङ्गं स्वकीयं शरीरं नयति काष्ठदाहे हविष्पाके च प्रेरयतीति तृतीयं प्रवृत्तिनिमित्तम् ।

स्थूलाष्ठीवनामकस्य महर्षेः पुत्रो निरुक्तकारः कश्चिदक्नोपन इत्यग्नि-शब्दस्य निर्वक्ति–तत्र न क्नोपयतीत्युक्ते न स्नेहयति' किन्तु काष्ठादिकं रूक्षय-तीत्युक्तं भवति। शाकपूणिनामको निरुक्तकारो धातुत्रयादग्निशब्दनिष्पत्तिं मन्यते। इतः 'इण् गतौ' इति धातुः। अक्तः 'अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु' इति धातुः। दग्धो 'दह् भस्मीकरणे' इति धातुः। नीतो 'णीञ् प्रापणे' इति धातुः। अग्निशब्दो ह्यकारगकार-निशब्दानपेक्षमाण एतिधातोरुत्पन्नादयन-शब्दादकारमादत्ते, अनक्ति धातुगतस्य ककारस्य गकारादेशं कृत्वा तमादत्ते, यद्वा दहति धातुजन्याद् दग्धशब्दाद् गकारमादत्ते। नीरिति नयतिधातुः स च ह्रस्वो भूत्वा परो भवति। ततो धातुत्रयं मिलित्वाग्निशब्दो भवति। यज्ञभूमिं गत्वा स्वकीयमङ्गं नयति—काष्ठदाहे हविष्पाके च प्रेरयतीति समुदायार्थः। तस्मादग्नि–शब्दार्थस्य देवताविशेषस्य प्राधान्येन स्तुतिप्रदर्शनायैषा 'अग्निमीळे' इत्यृग् भवतीति ।

तामेतामृचं यास्क एवं व्याख्यातवान्–'अग्निमीळेऽग्निं याचामि। ईळिरध्ये-षणकर्मा पूजाकर्मा वा। पुरोहितो व्याख्यातः। यज्ञस्य देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारम्। जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः। रत्नधातमम् रमणीयानां धनानां दातृतमम्।' (नि० ७।१५) इति।

अस्यायमर्थः—ईडतिधातोः स्तुत्यर्थत्वं प्रसिद्धम्। 'धातूनामनेकार्थत्वम्' इति न्यायमाश्रित्य याञ्चाध्येषणापूजा अप्यत्रोचितत्वात् तदर्थतया व्याख्याताः। पुरोहितशब्दो द्वितीयेऽध्याये (नि० २।१२)–'यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितः' (ऋ० सं० १।९८।७) इत्येताम् ऋचमुदाहृत्य 'पुर एनं दधति' (नि० २।१२) इति व्याख्यातः। तैत्तिरीयाश्च पौरोहित्ये स्पर्धमानस्य पश्वनुष्ठानं विधाय तत्फलत्वेन 'पुर एनं दधते' (तै० सं० २।१।२।९) इत्यामनन्ति। देवशब्दो दान-दीपन-द्योतनानामन्यतममर्थमाचष्टे। यज्ञस्य दाता दीपयिता द्योतयिताय-मग्निरित्युक्तं भवति। दीपन-द्योतनयोरेकार्थत्वेऽप्यस्ति धातुभेदः। यद्यप्यग्निः पृथिवीस्थानस्तथापि देवान् प्रति हविर्वहनाद् द्युस्थानो भवति। देवशब्ददेवता–शब्दयोः पर्यायत्वान्मंत्रप्रतिपाद्या काचिदग्निव्यतिरिक्ता देवता नान्वेषणीया। होतृशब्दस्य ह्वयतिधातोरुत्पन्नत्वेन देवानामाह्वातारमिति। और्णवाभ-नामकस्तु मुनिर्जुहोतिधातोरुत्पन्नो होतृशब्द इति मन्यते। अग्नेश्च होतृत्वं होमाधि-करणत्वेन द्रष्टव्यम्। रत्नशब्दो द्वितीयाध्याये मघमित्यादिष्वष्टाविंशतौ धन-नामसु पठितः (निघ० २।१०) रमणीयत्वात् रत्नत्वम्। दधातिधातुरत्र दानार्थवाचीति। तदिदं निरुक्तकारस्य यास्कस्य मंत्रव्याख्यानम्।

अथ व्याकरणप्रक्रियोच्यते। अगि धातोर्गत्यर्थात् (धा० ११४३) 'अङ्गेर्न लोपश्च (उ० ४।५०) इत्यौणादिसूत्रेण नि-प्रत्ययः, इदित्वान्नुमागमेन प्राप्तस्य नकारस्य लोपश्च भवति। अङ्गति स्वर्गं गच्छति हविर्नेतुमित्यग्निः। तत्र 'धातोः' (६।१।१६२) इत्यकार उदात्तः। 'आद्युदात्तश्च' (७।१।३) इति प्रत्ययगत इकारोऽप्युदात्तः। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।१५८) इति द्वयोरन्यतरमुदात्तमवशेष्येतरस्यानुदात्तत्वं प्राप्तम्। तत्र धातुस्वरे प्रथमतोऽवस्थिते सति पश्चादुपदिश्यमानः प्रत्ययस्वरोऽवशिष्यते। 'सति शिष्टस्वरो बलीयान्' इति हि न्यायः। ततोऽन्तोदात्तमग्निप्रातिपदिकम्। 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (३।१।४) इत्यमित्येतद्द्वितीयैकवचनमनुदात्तम्। तस्य 'अमिपूर्वः' (६।१।१०७) इति यत् पूर्वरूपं तदुदात्तम्; 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (८।२।५) इति सूत्रितत्वात्।

अग्निशब्दो धातुजन्मेति मते सेयं प्रक्रिया सर्वापि द्रष्टव्या। मतद्वयं यास्केन प्रदर्शितम्। 'नामान्याख्यातजानि शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके' (नि० १।१२) इति। गार्ग्यस्य मतेऽग्निशब्दस्याखण्डप्रातिपदिकत्वात् 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फि० सू० १।१) इत्यन्तोदात्तत्वम्। पूर्वोक्तेष्वग्रणीरित्यादिनिर्वचनेषु प्रकृतिप्रत्ययादशेषप्रक्रिया यथोचितं कल्पनीया। एतदेवाभिप्रेत्य यास्क आह—'अथ निर्वचनम्। तद् येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्। अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन। अविद्यमानेऽप्यक्षरवर्णसामान्यान् निर्ब्रूयात्' नत्वेव न निर्ब्रूयात्' (नि० २।१) इति।

अस्यायमर्थः—तत् तत्र निर्वचनीयपदसमूहमध्ये येष्वग्न्यादिपदेषु पूर्वोक्तरीत्या स्वरसंस्कारौ समर्थौ व्याकरण-सिद्धौ स्याताम्। स्वर उदात्तादिः। संस्कारो नि–प्रत्ययादिः। किंच तौ स्वरसंस्कारौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्याताम्। शब्दस्यैकदेशः पूर्वोक्तोऽगिधातुः प्रदेशः। तत्र भवो गुणो गतिरूपोऽर्थः। तेनान्वितौ। तान्यग्न्यादिपदानि तथा व्याकरणानुसारेण निर्ब्रूयात्। तच्च निर्वचनमस्माभिः प्रदर्शितम्। अथ पूर्वोक्तवैलक्षण्येन कश्चित् स्वेन विवक्षितोऽर्थो नान्वितस्तस्मिञ्छब्देऽनुगतो न भवेत्। तस्यैव व्याख्यानम्–'अप्रादेशिके विकारे' इति। अग्रनयनादिरूपः क्रियाविशेषो विकारः। स च प्रदेशेनाग्निशब्दैकदेशेनात्र नाभिधीयत इत्यप्रादेशिकः। एवं सति यः पुमान् अर्थनित्यः स्वविवक्षितेऽर्थे नियतो निर्बन्धवान्। ब्राह्मणानुसारेण वा देवतान्तरविशेषणत्वेन योजयितुं वा स निर्बन्धः। तदानीं स पुमान् केनचित् वृत्तिसामान्येन स्वविवक्षितमर्थं परीक्षेत तस्मिञ्छब्दे योजयेत्। वृत्तिक्रिया, तद्रूपेण सामान्यं सादृश्यम्। अस्माभिश्चा-

प्रनयनादिरूपं क्रियात्वसामान्यमुपजीव्याग्रणीत्वाद्यर्थो योजितः। तदिदं यास्काभिमतं निर्वचनम्। स्थौलाष्ठीविरत्नकसामान्यान् निर्वक्ति। अक्नोपनशब्दस्यादौ निषेधार्थमकाररूपमक्षरं विद्यते। अग्निशब्दस्याप्यादावकारोऽस्ति। तदिदमक्षरसाम्यम्। शाकपूणिस्तु वर्णसाम्यान्निर्ब्रूते। दग्धशब्दाग्निशब्दयोर्गकाररूपवर्णेन साम्यम्। सर्वथापि निर्वचनम् न त्याज्यम्।

'ईळे' इत्येतत् पदं कृत्स्नमप्युदात्तम्, 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) इत्यतिङन्तादग्निशब्दात् परस्य 'ईळे' इत्यस्य तिङन्तस्य निघातविधानात्। पदद्वयसंहिताकाले ईकारस्य धातुगतस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६६) इति स्वरितत्वम्। तस्मादूर्ध्वभाविन एकारस्य तिङ्प्रत्ययरूपस्य 'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्' (१।२।३९) इत्यैकश्रुत्यं प्रचयनामकं भवति। **पुरः शब्दो**ऽन्तोदात्तः 'अयं पुरो भुवः' (तै० सं० ४।३।२।१) इत्यत्र तथैवाम्नातत्वात्। 'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' (५।३।३९) इति पूर्वशब्दादस्-प्रत्ययः पुरादेशश्च। ततोऽत्र प्रत्ययस्वरः। धाञो निष्ठायां 'दधातेर्हिः' (७।४।४२) इत्यादेशे सति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो **हित-शब्दः**। तथा तत्र समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते तदपवादत्वेन 'तत्पुरुषे० तुल्यार्थ०' (६।२।२) इत्यादिनाव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यद्वा 'पुरोऽव्ययम्' (१।४।६७) इति गतिसंज्ञायां 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। तत् ओकार उदात्तः। अवशिष्टनामनुदात्तस्वरितप्रचयाः पूर्ववद् द्रष्टव्याः। आद्याक्षरस्य संहितायां प्रचयस्वरप्राप्तौ 'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः' (१।२।४०) इत्यतिनीचोऽनुदात्तः।

'यजयाच०' (पा० सू० ३।२।९०) इत्यादिना यजतेर्नङ्प्रत्यये सत्यन्तोदात्तो **यज्ञ-शब्दः**। विभक्तेः सुप्स्वरेणानुदात्तत्वे सति पश्चात् स्वरितत्वम्। **देव-शब्दः** पचाद्यजन्तः। स च फिट्स्वरेण प्रत्ययस्वरेण चित्स्वरेण वान्तोदात्तः। **ऋत्विक्-शब्द** ऋतौ यजतीति विग्रहे सति 'ऋत्विदधृक्०' (३।२।५९) इति निपातितः 'गतिकारकोपदात् कृत्' (पा० सू० ६।२।१३९) इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणान्तोदात्तः। विभक्तिस्वरः पूर्ववत्। **होतृ-शब्द**स्तृन् प्रत्ययान्तः नित्स्वरेणाद्युदात्तः। स्वरितप्रचयौ पूर्ववत्। **रत्न-शब्दो** 'नवविषयस्यानिसन्तस्य' (फि० सू० २।३) इत्याद्युदात्तः। तथा चाम्नायते 'रत्नं धाता' (ऋ० सं० ४।३५।८) इति। रत्नानि दधातीति विग्रहः। समासत्वादन्तोदात्तो **रत्नधा-शब्दः**। यद्वा कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः। तमप्-प्रत्ययस्य पित्स्वरेणानुदात्तत्वे सति स्वरितप्रचितौ संहितायामाद्याक्षरस्य प्रचयो द्वितीयाक्षरस्य सन्नतरत्वम्।

'वेदावतार आद्याया ऋचोऽर्थश्च प्रपञ्चितः।
विज्ञातं वेदगाम्भीर्यमथ संक्षिप्य वर्ण्यते॥ १॥'

हिन्दी—(प्रत्येक परिवार के लिये) पुरोहित-रूप [पुरोहितम्], यज्ञ-कर्म के [यज्ञस्य] दैवी ऋत्विक् [देवं ऋत्विजम्] (यजमान की रक्षा आदि के लिये देवताओं को) बुलाने वाले [होतारम्] (तथा) रत्न-आदि के सर्वाधिक प्रदाता [रत्नधातमम्] अग्नि की [अग्निम्] (मैं) वन्दना करता हूँ [ईडे] ॥ १ ॥

टिप्पणियाँ—१. **अग्निम्**—यास्क के अनुसार—√अग् (=जाना) । नि प्रत्यय । अग् धातु 'अङ्ग्' बनाकर प्रवर्तित होती है, जिसके ङकार का 'अङ्गेर्नलोपश्च' (उ० ४।५०) सूत्र से लोप हो जाता है । इस प्रकार 'अङ्गति स्वर्गं गच्छति हविः नेतुं इति अग्निः' से 'अग्नि' पद की सिद्धि होती है । आज के सन्दर्भ में हम इसे इस प्रकार ले सकते हैं—अङ्गति ज्वाला-कलापरूपेण ऊर्ध्वं गच्छति इति अग्निः । 'अग्नि' के विषय में ब्राह्मण-ग्रन्थों की मान्यता इस प्रकार है—'अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानाम्' (ऐ० ब्रा० १।४); 'अग्निर्वै देवानामवमः' (ऐ० ब्रा० १।१) । तैत्तिरीय-सम्प्रदाय के अनुसार–'अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम्' (तै० ब्रा० २।४।३।३); 'अग्निरवमो देवतानाम्' (तै० सं० ५।५।१।४) । वाजसनेयी-सम्प्रदाय के अनुसार–'स वा एषोऽग्रे देवतानामजायत तस्मादग्निर्नाम' ।

२. **ईळे**—'ईडे' का वैदिक रूप । √ईड् (= स्तुति करना) + लट्, उत्तम पु०, एक व० । बह्वृचाध्येतृ–सम्प्रदाय विशेष की मान्यता है कि दो स्वरों के मध्य में यदि 'ड' आवे तो उसे 'ळ' तथा यदि 'ढ' आवे तो 'ळ्ह' कर दिया जाय । दे०—

'अज्मध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः ।
अज्मध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं वै यथाक्रमम् ॥'

इसी लिये 'ईडे' (= ई + ड् + ए) में दो स्वरों के मध्य में होने से 'ड्' को 'ळ्' हो गया है । इसके अर्थ में बड़ा√ मत -वैषम्य है—यास्क–याचना करता हूँ अथवा पूजा करता हूँ (दे० 'ईळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा') । यास्क के टीकाकार दुर्ग–याचना करता हूँ । सा०–स्तुति करता हूँ । मैक–प्रशंसा करता हूँ । गेल्ड०–आवाहन करता हूँ अथवा विनय करता हूँ । ब्लूम०–(मैं अग्नि का) वरण करता हूँ । उनके अनुसार 'ईड्' धातु 'इष्' (= इच्छा करना) का विकसित रूप तथा 'वृ' (= वरण करना) का समानार्थक है ।

३. **पुरोहितम्**—पुरः (पूर्व + अस्) + हितः (= धा + क्त) = पुरोहितः, तम् । जिसे सभी कामों में (विशेषतः धार्मिक अनुष्ठानों में) आगे

किया जाय अर्थात् अगुवा बनाया जाय । उसे 'पुरोहित' या 'पुरोधा' कहते हैं । 'यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितः' (ऋ० सं० १।९८।७)—इस ऋचा को आधार बना कर निघण्टुकार ने 'पुरोहित' पद का अर्थ किया है—'पुर एनं दधति' (दे०-निघं० २।१२)।

जब 'पुरोहित' एक वर्ग-विशेष हो गया, तो उससे आशा की जाने लगी कि वह अपने आश्रयदाता या यजमान के हित का ध्यान पहले रक्खेगा । (यह बात दूसरी है कि आज कल पुरोहित अपने हित का ध्यान सर्व प्रथम रखने लगे हैं)।

सा० इसे 'यज्ञस्य' के साथ जोड़ कर 'यज्ञस्य पुरोहितम्' का द्विधा अर्थ करते हैं—

[क] (जिस प्रकार राजा का पुरोहित उसके अभीष्ट की पूर्ति करता है । उसी प्रकार यह अग्नि भी) यज्ञ के अपेक्षित 'होम' को सम्पादित करने वाला है । [ख] यज्ञ से सम्बन्धित पूर्व भाग में जो आहवनीय के रूप में स्थित रहता है अर्थात् यज्ञ में पूर्व की ओर 'आहवनीय' नाम से जिसकी स्थापना की जाती है । मैक० इसे घरेलू पुरोहित से अभिन्न मानते हैं । ग्रहस्थ के लिये अग्नि सर्वाधिक उपादेय वस्तु है भी ।

४. **यज्ञस्य**—√यज्+नङ् प्रत्यय । मैक० ने इसे 'ऋत्विजम्' से सम्बन्ध करके इसके औचित्य के दो कारण दिये हैं—(१) सम्बन्ध कारक जिससे सम्बन्ध रहता है, वह उस शब्द के पहले आता है—सायण की योजना 'यज्ञस्य पुरोहितम्' में तो इसका उलटा है । (२) यह तथा 'ऋत्विजम्' एक ही पाद में स्थित हैं । तुल०—'यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा' (ऋग्० ८।३८।१)।

५. **देवम्**—यास्क इसे 'यज्ञस्य' से सम्बद्ध करके 'यज्ञस्य देवम्' का अर्थ 'यज्ञस्य दाता दीपयिता द्योतयिता अयं अग्निः'—यह अर्थ करते हैं । इसके अतिरिक्त वैकल्पिकरूप से वे इसका अर्थ 'द्युलोक स्थित' भी करते हैं और अपने मन्तव्य की पुष्टि में कहते हैं कि—'यद्यपि अग्निः पृथिवीस्थानः तथापि देवान् प्रति हविर्वहनाद् द्युस्थानो भवति' । सा० इसे 'अग्निम्' का स्वतंत्र विशेषण बना कर इसका अर्थ 'दान-आदि-गुण-युक्तम्' करते हैं । मैक० इसे 'अग्निम्' के विशेषणभूत 'ऋत्विजम्' पद का विशे० स्वीकारते हैं । वे 'यज्ञस्य देव' 'ऋत्विजम्' का अर्थ 'यज्ञ के दैवी ऋत्विक् (अग्नि) को—'ऐसा मानते हैं । तुल०-'अग्निर्देवाँ ऋतुपो यजाति' (ऋग्० १०।२।५)।

६. **ऋत्विजम्**—ऋतु+√इज् (=यज्)+क्विन् प्रत्यय । सा० इसे 'होतारम्' के साथ जोड़ कर 'होतारं ऋत्विजम्' का अर्थ 'होतृ नामक ऋत्विक्

विशेष' करते हैं। अपने मत की पुष्टि में वे यह उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—'अग्निर्वै देवानां होता' (ऐ० ब्रा० ३।१४)। उनका कहना है कि—'देवानां यज्ञेषु होतृनामक ऋत्विगग्निरेव [भवति]' यज्ञ में अध्यक्षभूत पुरोहित को 'ऋत्विक्' कहते हैं' जिनके होतृ 'उद्गातृ' अध्वर्यु और ब्रह्मन् ये चार वर्ग होते हैं।

७. **होतारम्**—होतृ, द्वितीया, एक व०। होतृ = हु + तृन् प्रत्यय। यास्क के अनुसार इसका अर्थ '(देवताओं का आह्वान करने वाला' है, क्योंकि यह 'ह्वे' (ह्वयति) धातु से निष्पन्न है। और्णवाभ नामक मुनि इसे 'हु' (जुहोति) धातु से बना हुआ मानते हैं। जो भी हो होम का अधिकरण होने के कारण अग्नि का होतृत्व स्वयं-सिद्ध है। मैक० इसका अर्थ मात्र 'बुलाने वाला' करते हैं।

८. **रत्नधातमम्**—रत्नं दधाति इति रत्नधा। रत्नधा + तमप् प्रत्यय = रत्नधातमम्। निघं० २।१० में 'रत्न' को 'धन' का पर्याय माना गया है। रमणीयत्व के कारण धन 'रत्न' है। 'रत्नं दधाति। अर्थ वाले 'रत्नधा' पद में 'दधाति' क्रिया दान देने के अर्थ में अभीष्ट है। इस लिये यास्क इसका अर्थ 'शोभन-धन-दाता' करते हैं। सा० के अनुसार इसका अर्थ '(यज्ञ-फल रूपी) रत्नों का अतिशय धारक अथवा पोषक'। मैक० के मत में 'निधि या बहुमूल्य वस्तु प्रदाता'। मैक० का स्पष्ट मत है कि ऋग्० में 'रत्न' शब्द कभी भी हीरे जवाहरात के लिये नहीं प्रयुक्त हुआ है।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति॥ २॥

पदपाठ—अग्निः। पूर्वेभिः। ऋषिऽभिः। ईड्यः। नूतनैः। उत।
सः। देवान्। आ। इह। वक्षति॥ २॥

सायणभाष्यम्—अयम् अग्निः पूर्वेभिः पुरातनैः भृग्वङ्गिरस्प्रभृतिभिः ऋषिभिः ईड्यः स्तुत्यो नूतनैः उत इदानीन्तनैरस्माभिरपि स्तुत्यः। स अग्निः स्तुतः सन् इह यज्ञे देवान् हविर्भुज आवक्षति। 'वह प्रापणे' (धा० १-१८५) इति धातुः। आह्वयतित्यर्थः। पूर्वेभिरित्यत्र 'बहुलं छन्दसि' (७।१।१०) इति भिस ऐसादेशाभावः। 'पूर्व पर्व भर्व पूरणे' (धा० १-५६८-७०) इति धातुः। पूर्वतिधातोरन्प्रत्यय औणादिकः। इन् प्रत्ययान्तः **ऋषिशब्दः**। 'ऋष्यन्धक०' (४।१।११४) इति निपातना, ल्लघूपधागुणाभावः। नित्प्रत्ययो वात्र ज्ञेयः (३०४-५५९)। तौ शब्दौ कित्स्वरेणाद्युदात्तौ। **ईड्य-शब्दस्य** ण्यत्-प्रत्ययान्तत्वात् 'तित्स्वरितम्'

(६।१।१८५) इति स्वरिते शेषानुदात्तत्वे च प्राप्ते तदपवादत्वेन 'ईडवन्द०' (६।१।२१४) इत्यादिनाद्युदात्तत्वम् । 'नवस्य नू आदेशोलप्तनप्खाश्च' (५।४।३०।६) इति वार्तिकेन **नवशब्दस्य** नू इत्यादेशः तनन् प्रत्ययश्च महावार्तिके विहिता। ततो नित्स्वरेणाद्युदात्तः । अवशिष्टस्वरा अग्न्यादिषु नूतनान्तेषु पूर्ववदुन्नेयाः। **उतशब्दो** यद्यपि विकल्पार्थे प्रसिद्धस्तथापि निपातत्वेनानेकार्थत्वादौचित्येनात्र समुच्चयार्थो द्रष्टव्यः । 'उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति' (नि० १–४) इति निपातत्वम्। तर्हि निपाता आद्युदात्ताः' (फि० ४–१२) इत्युकारस्योदात्तः प्राप्त इति चेत् न' प्रातःशब्दवदन्तोदात्तत्वम् । यथा प्रातःशब्दोऽन्तोदात्तत्वेन स्वरादिषु (१।१।३७) पठित एवमुतशब्दस्यापि पाठो द्रष्टव्यः। स्वरादेराकृतिगुणत्वात्। यद्वा 'एवादीनामन्तः' (फि० ४–१४) इत्यन्तोदात्तः। स इत्यत्र फिट्स्वरः। **देवशब्दः** पूर्ववत्। देवानित्यस्य नकारस्य संहितायां 'दीर्घादटि०' (८।३।१) इति रुत्वम्। अत्रानुनासिक०' (८।३।२) इत्यनुवृत्तौ 'आटोऽटि नित्यम्' (८।३।३) इत्याकारः सानुनासिकः। 'भो भगो०' (८।३।१७) इति रोर्यकारः। स च 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) इति लुप्यते। तस्यासिद्धत्वात् न पुनः सन्धिकार्यम्। आङो निपातत्वादाद्युदात्तत्वम्। इदमो ह-प्रत्यये सति निष्पन्नत्वात् **इहशब्दे** प्रत्ययस्वरः। वहतिधातोर्लोडर्थे छान्दसो लृट्। तस्य स्यप्रत्ययगतस्य यकारस्य लोपोऽपि छान्दसः, यद्वा लेटि 'सिब्बहुलम्०' (३।१।३४) इति सिप्-प्रत्ययः । 'लेटोऽडाटौ' (३–४–९४) इत्यडागमश्च। ततो **वक्षतीति** सम्पद्यते। तस्य तिङन्तत्वान्निघातः । संहिता-स्वराः पूर्ववत् ॥ २ ॥

हिन्दी—अग्नि [अग्निः] प्राचीन [पूर्वेभिः] और [उत] नवीन [नूतनैः] ऋषियों द्वारा [ऋषिभिः] स्तुति किये जाने योग्य [ईड्यः] (है) वह [सः] देवताओं को [देवान्] यहाँ [इह] ले आवे [आ-वक्षति] ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१. **पूर्वेभिः**—पूर्व ('पूर्व पर्व मर्व पूरणे' (धा० १।५६८–७०) इति धातुः) अन् प्रत्यय, तृतीया बहुव०। 'बहुलं छन्दसि' (७।१।१०) सूत्र से 'पूर्वैः' न बन कर 'पूर्वेभिः' बना है। सा० के अनुसार इसका अर्थ 'पुरातन भृगु, अंगिरा आदि (ऋषियों) द्वारा। मैक० के अनुसार—अतीत-कालिक।

२. **ऋषिभिः**:—√ऋष् (=जाना, प्रवाहित होना) इन् प्रत्यय। प्रगाढानुभूति की दशा में पहुँचने से ही ऋषि 'ऋषि' कहलाता है। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' में यही भावना देखी जा सकती है।

३. ईड्य :—√ईड् (= स्तुति वा याचना करना) + ण्यत् प्रत्यय। सा०—स्तुति किये जाने योग्य। मैक०—प्रशंसा के योग्य।

४. नूतनैः—नव (= नवीन) + तनन् प्रत्यय। 'नवस्य नू आदेशो त्नप्तनप्खाश्च' (५।४।३०।६) इति वार्तिक के अनुसार 'नव' शब्द को 'नू' आदेश होकर फिर उसमें 'तनन्' प्रत्यय लगा कर 'नूतन' शब्द की सिद्धि होती है, जिसका तृतीया, बहुवचन में 'नूतनैः' बना। ऋग्वेद में इस मंत्र की ही भांति प्राचीन एवं नूतन ऋषियों का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। दे०—ऋग्० ७।२२।९, ६।२१।५, ३।३२।१३ आदि। सा०, मैक० आदि सभी ने इसका अर्थ 'आज-कल के' अथवा 'वर्तमान-कालिक' किया है।

५. उत—यह शब्द यद्यपि विकल्प-वाची के रूप में प्रसिद्ध है किन्तु अनेकार्थक होने से यहाँ समुच्चय अर्थ में इसका प्रयोग भी औचित्य पूर्ण ही है।

६. देवाँ—देवान्। ऋग्वेद में पदान्त 'आन्' को स्वर परे रहने पर 'आँ' हो जाता है। यहाँ अग्रिम 'एह' (= आ + इह) के कारण 'देवान्' को 'देवाँ' हुआ है। तुल०-'यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्' (ऋ० २।१२।२); 'चिकित्वाँ' (ऋ० १।२५।११)।

७. एह—आ + इह। 'आ' उपसर्ग आगे स्थित 'वक्षति' क्रिया-पद से संयुक्त किया जायगा, इस लिये—'आ वक्षति' बनेगा।

८. वक्षति—√वह् (= ले जाना, धारण करना) + लोट् के अर्थ में लृट् लकार। 'वह्' धातु का अग्नि।

अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त् पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे।
य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥ ३ ॥

पदपाठ—अ॒ग्निना॑। र॒यिम्। अ॒श्न॒व॒त्। पोष॑म्। ए॒व। दि॒वेऽदि॑वे।
य॒शस॑म्। वी॒रव॑त्ऽतमम् ॥ ३ ॥

सायणभाष्यम्—योऽयं होत्रा स्तुत्योऽग्निस्तेन अग्निना निमित्तभूतेन यजमानो रयिं धनम् अश्नवत् प्राप्नोति। कीदृशम् रयिम्? दिवेदिवे पोषमेव प्रतिदिनं पुष्यमाणतया वर्धमानमेव, न तु कदाचिदपि क्षीयमाणम्। यशसं दानादिना यशोयुक्तम्। वीरवत्तमम्, अतिशयेन पुत्रभृत्यादिवीरपुरुषोपेतम्। सति हि धने पुरुषाः सम्पद्यन्ते। **रयिशब्दो** मघमित्यादिधननामसु पठितः (नि० २-१०)। तत्र फिट्स्वरः। **अश्नोतेर्धातोर्लेटि** व्यत्ययेन तिप्। 'इतश्च लोपः' इतीकारलोपः। 'लेटोऽडाटौ' (३-४-९४) इत्यडागमः। ततोऽश्नवदिति भवति। तस्य निघातः। घञन्तत्वात् **पोषशब्द** आद्युदात्तः।

एवशब्दस्य निपातत्वेऽपि 'एवादीनामन्तः' (फि० ४।१४) इत्यन्तोदात्तत्वम् । वकारान्ताद् **दिवशब्दात्** परस्याः सप्तम्याः 'सुपां सुलुक्' (७।१।३९) इत्यादिना शेभावे सति 'सावेकाचः' (६।१।१६८) इत्यादिना, 'ऊडिदम्पदादि' (६।१।१७१) इत्यादिना वा तस्योदात्तत्वम् । 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) इति द्विर्भावे सत्युत्तरभागस्य 'अनुदात्तं च' (८।१।३) इत्यनुदात्तत्वम् । **यशो**ऽस्यास्तीति विग्रहे सति 'अर्शआदिभ्योऽच्' (५।२।१२७) इत्यच्-प्रत्ययः । चित्स्वरं व्यत्ययेन बाधित्वा मध्योदात्तत्वम् । फिट्स्वरेणान्तोदात्तात् **वीरशब्दा**दुत्तरयोर्मतुप्तमपोः पित्त्वादनुदात्तत्वम् । 'ह्रस्वनुड्भ्याम्' (६।१।१७६) इति तु न, सावर्णान्तत्वात् 'न गोश्वन्' (६।१।१८२) इति प्रतिषेधात् ॥ ३ ॥

हिन्दी—(अग्नि का उपासक मनुष्य) अग्नि के माध्यम से [अग्निना] प्रतिदिन [दिने दिने] पुष्टि (अर्थात् वृद्धि) को ही प्राप्त होने वाले [पोषम् एव], यश-युक्त [यशसम्] (और) अतिशय रूपेण वीर-पुरुषों से मण्डित [वीरवत्तमम्] धन को [रयिम्] प्राप्त करे [अश्नवत्] ॥ ३ ॥

टिप्पणियाँ—१. **अश्नवत्**—प्राप्त करे । लौकिक संस्कृत में इसका रूप 'अश्नुवीत' बनता है । सायणादि इसे लट्लकार, अन्य पुरुष का रूप मानते हैं ।

२. **पोषम्**—√पुष् + घञ् प्रत्यय । सा० ने इसे 'रयिम्' का विशेषण-पद माना है । वे 'पोष' का अर्थ 'वर्धमानं' करते हैं । मैक० इसे स्वतंत्र पद स्वीकार कर इसका अर्थ 'समृद्धि' बतलाते हैं ।

३. **यशसम्**—यश अर्थात् कीर्ति से युक्त । धन का दान करने से यश-लाभ होता है । वैसे भी जिसके पास धन होता है, उसका यश होता ही है । सा० इसे 'रयिम्' और मैक० 'पोषम्' का विशे० मानते हैं ।

४. **वीरवत्तमम्**—वीर + मतुप् (वतुप्) प्रत्यय = वीरवत् + तमप् प्रत्यय = वीरवत्तम, तम् = अतिशयेन वीरपुरुषैः जुष्टम् । धन के साथ-साथ यदि वीर पुत्र पौत्रादि भी सुलभ हों, तब तो उस धन की रक्षा होती है, अन्यथा दस्यु आदि इसे छीन सकते हैं । दूसरे यह भी कि जब धन होता है, तो बड़े-बड़े वीर-धीर इच्छित-अनिच्छित लोग आ-आकर नाता जोड़ ही लेते हैं । इसी लिये 'रयिम्' को 'वीरवत्तमम्' कहा गया है । सा० तो इसे 'रयिम्' का ही, किन्तु मैक० इसे 'पोषम्' का विशे० मानते हैं ।

विशेष—मैक० टिप्पणी के रूप में जो 'यशसम्' का अर्थ 'यश उत्पन्न करने वाला' तथा 'वीरवत्तमम्' का अर्थ 'वीर पुत्रादिक द्वारा उत्पन्न किया गया' लिखते हैं, वह हमें भी मान्य है । किन्तु हमें उसे 'रयिम्' का विशे० मानने

के पक्ष में 'है', 'पोषम्' का नहीं। हमारे मत में 'पोषम्' स्वयं 'रयिम्' का विशे० है। इसका एक कारण तो यह है कि 'रयिम्' और 'पोषम्' पदों के समुच्चय का सूचक 'च' आदि पद अप्राप्त है; दूसरा कारण यह है कि 'पोषम्' के बाद स्थित एवं शब्द उस अर्थ में बाधक है और तीसरा कारण यह है कि 'रयिम्' और 'पोषम्' क्रमशः 'धन' और 'समृद्धि' अर्थ वाले होने पर लगभग समानार्थक हो जाते हैं।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

पदपाठ—अग्ने। यम्। यज्ञम्। अध्वरम्। विश्वतः। परिऽभूः। असि।
सः। इत्। देवेषु। गच्छति ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम्—हे अग्ने त्वं यं यज्ञं विश्वतः सर्वासु दिक्षु परिभूः परितः प्राप्तवान् असि स इत् स एव यज्ञो देवेषु तृप्तिं प्रणेतुं स्वर्गं गच्छति। प्राच्यादि-चतुर्दिगन्तेष्वाहवनीय-मार्जालीयगार्हपत्याग्नीध्रीयस्थानेष्वग्निरस्ति। 'परि' शब्देन होत्रीयादिधिष्ण्यव्याप्तिर्विवक्षिता। कीदृशं यज्ञम्? अध्वरम् हिंसारहितम्। न ह्यग्निना सर्वथा पालितं यज्ञं राक्षसादयो हिंसितुं प्रभवन्ति। **अग्निशब्दस्य** पाष्ठिकम् (६।१।१९८) आमन्त्रिताद्युदात्तत्वम्। **न** विद्यते **ध्वरो**ऽस्येति बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' (६।२।१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम्। **विश्वत्** इत्यत्र तसिलः प्रत्ययस्वरत्वं बाधित्वा पूर्ववर्णस्य 'लिति' (६।१।१९३) इत्युदात्तत्वम्। **परिभूरित्यत्राव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे** प्राप्ते तदपवादत्वेन कृदुत्तरपद-प्रकृतिस्वरत्वम्। **असीति** तिङन्तस्य 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (८।१।६६) इति निघाताभावः ॥ ४ ॥

हिन्दी—हे अग्नि! [अग्ने] जिस [यं] हिंसा-रहित [अध्वरम्] यज्ञ को [यज्ञम्] (तुम) चारों ओर से [विश्वतः] व्याप्त करके स्थित हो जाते हो [परि-भूः असि], वह (यज्ञ) [सः] ही [इत्] देवताओं को [देवेषु] प्राप्त होता है [गच्छति] ॥ ४ ॥

टिप्पणियाँ—१. **यज्ञमध्वरम्**—यज्ञम् + अध्वरम् (द्वितीया, एकव०)। सा० दोनों को क्रमशः विशेष्य-विशेषण मानकर 'हिंसा-रहित (= अध्वरम्) यज्ञ (= यज्ञम्) अर्थ करते हैं। उनका मत है कि अग्नि द्वारा रक्षित यज्ञको राक्षसादि हिंसित नहीं कर पाते। इस प्रकार 'अध्वरम्' का अर्थ 'जिसे दूषित अथवा खण्डित नहीं किया जा सका हो' ऐसा प्रतीत होता है। मैक० ने

दोनों का समुच्चय मानकर 'पूजा (= यज्ञम्) और याग (= अध्वरम्)' अर्थ किया है। यज्ञादिक में भी पशु-आदि की हिंसा किये जाने के विरोधी होने से हमें 'अध्वरम्' का अर्थ 'हिंसा-रहित' (= जिस में किसी के आलम्भन, उत्पीडन आदि के रूप में हिंसा-कर्म न विद्यमान हो) ही अभिमत है। समुच्चय-बोधक 'च' के अप्राप्त होने से मैक० का अर्थ हमें अस्वीकार है। अन्यथा उनका अर्थ भी बड़ा उत्तम हो सकता था—'जिस पूजा-कर्म या हवनादिक यज्ञ-कर्म का साक्षी अग्नि होता है। उसका फल देवताओं को पहुंचता है। अन्यथा नहीं।'

२. **विश्वतः**—विश्व + तसिल् प्रत्यय। = पूर्णतः अथवा सभी ओर से।

३. **परिभूरसि**—परिभूः। असि। परितः भवति इति परिभूः (= परि + √भू (= होना) + क्विप् प्रत्यय), तथा त्वं असि स्थितोऽसि इत्यर्थः। देवता के रूप में अग्नि का सर्व व्यापकत्व एवं विभुत्व अनेक स्थानों पर वर्णित है। दे०—'त्वं हि विश्वतो मुख! विश्वतः परिभूरसि' (ऋ० १।९७।६); अग्ने! नेमिरराँ इव देवांस्त्वं परिभूरसि' (ऋ० ५। १३।६); 'देवो देवान् परिभूर्ऋतेन वहानो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान्' (ऋ० १। १२।२); 'त्वया ह्यग्ने वरुणो धृतव्रतो मित्रः शाशद्रे अर्यमा सुदानवः। यत् सीमनु क्रतुना विश्वथा विभुरराञ्च नेमिः परिता बभूव॥' (ऋ० १। १४१।९)-आदि।

४. **इत्**—यह यहाँ 'एव' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तुल० 'त्रिभिरित्पदेभिः' (ऋ० १।१५४।३)।

५. **देवेषु**—'गच्छति' क्रिया-पद के गन्तव्य भूत 'देवान्' (द्वितीया वि०) के स्थान पर यहाँ 'देवेषु' (सप्तमी वि०) का प्रयोग हुआ है। 'देवान् गच्छति' का अर्थ केवल 'देवताओं की ओर जाता है' होता, जो कि अनिश्चय-मूलक है, क्योंकि उससे यह प्रकट नहीं होता कि देवताओं की ओर जाने वाला वह यज्ञ-फल उन्हें मिल ही जायगा। इसी अनिश्चयात्मकता के परिहार हेतु यहाँ सप्तमी का प्रयोग विवक्षित है।

अ॒ग्निर्होता॑ क॒विक्र॑तुः स॒त्यश्चि॒त्रश्र॑वस्तमः।
दे॒वो दे॒वेभि॒रा ग॑मत्॥ ५॥

पदपाठ—अ॒ग्निः। होता॑। क॒विऽक्र॑तुः। स॒त्यः। चि॒त्रश्र॑वःऽतमः।
दे॒वः। दे॒वेभिः॑। आ। ग॒म॒त्॥ ५॥

सायणभाष्यम्—अयम् = अग्निः देवः अन्यैः देवैर्हविर्भोजिभिः सह आगमत् अस्मिन् यज्ञे समागच्छतु। कीदृशोऽग्निः? होता होमनिष्पादकः।

कविक्रतुः कविशब्दोऽत्र क्रान्तवचनः, न तु मेधाविनाम। क्रतुः प्रज्ञानस्य कर्मणो वा नाम। ततः क्रान्तप्रज्ञः क्रान्तकर्मा वा। सत्यः अनृतरहितः फलमवश्यं प्रयच्छतीत्यर्थः। चित्रश्रवस्तमः श्रूयते इति श्रवः कीर्तिः, अतिशयेन विविधकीर्ति-युक्तः। कविक्रतुश्चित्रश्रवस्तम इत्यत्रोभयत्र बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। सत्सु साधु सत्यः। 'सत्यादशपथे' (५।४।६६) इत्यत्रान्तोदात्तो हरदत्तेन निपातितः। लोडन्तस्य गच्छत्विति शब्दस्य छत्वाभावः। उकारलोपश्छान्दसः ततो रूपं गमदिति भवति। स्पष्टमन्यत् ॥ ५ ॥

हिन्दी—(देवताओं का) आवाहन करने वाला [होता], प्रशंसनीय [कवि—] कर्म (अथवा प्रज्ञा) वाला [—क्रतुः], सत्य भूत [सत्यः], अतिशय रूप से विविध कीर्तियों वाला [चित्रश्रवस्तमः] (और) प्रकाश-शील [देवः] अग्नि [अग्निः] (अन्य) देवताओं के साथ [देवेभिः] (यहाँ) आवे [आ-गमत्] ॥ ५ ॥

टिप्पणियाँ—१. **होता**—दे०—इसी सूक्त के प्रथम मंत्र-गत 'होतारम्' पर टिप्पणी।

२. **कविक्रतुः**—कविः (= प्रशंसनीया) क्रतुः (= प्रज्ञा कर्म वा) यस्य सः, इति बहुव्रीहिः। = जिसकी प्रज्ञा अथवा जिसके कर्म (= क्रतुः) प्रशंसा के योग्य (= कविः) हैं; ('अग्निः' का विशे०)। 'कवि' (= प्रशंसा के योग्य) के लिये दे०—आप्टे०। सा०—(क) क्रान्तप्रज्ञ (ख) क्रान्त कर्मवाला। मही०—अतीत, अनागत और दूरवर्ती पदार्थों का जिसे युगपद् ज्ञान हो। वह 'कवि' है। 'क्रतु' का अर्थ है कर्म-स्वरूप अथवा 'प्रज्ञा-रूप'। मैक०—चतुर प्रज्ञा वाला।

३. **चित्रश्रवस्तमः**—चित्रं विविधं विचित्रं वा श्रवः यशः यस्य सः चित्रश्रवाः, अतिशायी चित्रश्रवाः इति चित्रश्रवस्तमः। अतिशय रूप से विविध (अथवा विचित्र) प्रकार की कीर्त्ति वाला।

४. **देवेभिः**—'देवैः' के स्थान पर वैदिक प्रयोग। इस की रचना के लिये दे०—इसी सूक्त के द्वितीय मंत्र की 'पूर्वेभिः' से सम्बद्ध टिप्पणी।

५. **आगमत्**—आ + √गम् (= जाना) + लोट् लकार, अन्य पु०, एकव० (= 'आगच्छतु' के स्थान पर वैदिक प्रयोग)। छान्दस छत्वाभाव एवं उकार लोप के कारण 'गच्छतु' स्थाने 'गमत्' बना है

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

पदपाठ—**यत्। अङ्ग। दाशुषे। त्वम्। अग्ने। भद्रम्। करिष्यसि।**
तव। इत्। तत्। सत्यम्। अङ्गिरः ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम्—अङ्गेत्यभिमुखी करणार्थो निपातः। अङ्गाग्ने! हे अग्ने! त्वं दाशुषे हविर्दत्तवते यजमानाय तत्प्रीत्यर्थं, यद् भद्रं वित्तगृहप्रजापशुरूपं कल्याणं करिष्यसि, तद् भद्रं तवेत् तवैव सुखहेतुरिति शेषः। हे अङ्गिरः! अग्ने! एतच्च सत्यं न त्वत्र विसंवादोऽस्ति। यजमानस्य वित्तादिसम्पत्तौ सत्याम् उत्तरक्रत्वनुष्ठानेनाग्नेरेव सुखं भवति। **भद्रशब्दार्थं** शाट्यायिनः समामनन्ति 'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद्भद्रं गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्' इति। **अङ्गशब्दस्य** निपातत्वेऽप्यभ्यादित्वाद् अन्तोदात्तत्वम्। 'दाश्वान् साह्वान्०' (३।१।१२) इति सूत्रेण **'दाशृदाने'** (धा० १।८६७) इति धातोः क्वसुप्रत्ययो निपातितः। तत्र प्रत्ययस्वरः। आमन्त्रितस्या**ग्निशब्दस्य** पदात् परत्वेनाष्टमिकानुदात्तत्वं (८।१।१९) न शङ्कनीयम्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (८।१।१८) (१।१८) इति पर्युदस्तत्वात्। ततः पाष्ठिकम् (६।१।१९८) आद्युदात्तत्वमेव। **भद्रशब्दस्य** नब्विषयत्वेन (फि० २।१३) आद्युदात्तत्वप्रसक्तावपि 'भदि कल्याणे (धा० १।१२) इति धातोरुपरि रक्प्रत्ययेन (उ० २।२९) निपातनाद् अन्तोदात्तत्वम्। अस्मिन् वाक्ये **यच्छब्दप्रयोगात्** 'निपातैर्यद्यदिहन्त' (८।१।३०) इति निघाते प्रतिषिद्धे स्यप्रत्ययस्वरेण सति शिष्टेन करिष्यसि शब्द उपान्त्योदात्तः। **तवेत्यत्र** 'युष्मदस्मदोर्ङसि' (६।१।२११) इत्याद्युदात्तत्वम्। 'अङ्गिरा अङ्गाराः' इति यास्कः (नि० ३।१७) ऐतरेयिणोऽपि प्रजापतिदुहितृभ्यानोपाख्याने समामनन्ति—'येऽङ्गाराः आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' (ऐ० ब्रा० ८।१०) इति। तस्मादङ्गिरोनामकमुनिकारणत्वात् अङ्गाररूपस्याग्नेरङ्गि**रस्त्वम्**। अत्र पदात् परत्वेनाष्टमिकानुदात्तत्वम् ॥ ६ ॥

हिन्दी—हे [अङ्ग!] अग्नि! [अग्ने] तुम [त्वम्] यजमान के लिये [दाशुषे] जो भी [यत्] कल्याण [भद्रम्] करोगे [करिष्यसि], हे अङ्गिरा! [अङ्गिरः!] तुम्हारा [तव] यह (उद्देश्य) [एतत्] सत्य ही हुआ करता है [सत्यम्] ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ—१. **अङ्ग**—किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये प्रयुक्त सम्बोधनात्मक पद। पाश्चात्य विद्वान् भी इसे स्वीकार करते हैं।

२. **दाशुषे**—√दाश् (= देना) + क्वसु प्रत्यय निपातनपूर्वक 'दाश्वस्' शब्द सिद्ध होता है, उसका चतुर्थी, एकव०।

३. **भद्रम्**—√'भदि कल्याणे' धातु √रक् प्रत्यय से निपातनपूर्वक 'भद्र' शब्द की सिद्धि होती है। = कल्याण-कर्म। सा० इसे 'तव' के साथ जोड़ कर इस अर्थ की उद्भावना करते हैं—(हे अग्नि! तुम जो कुछ भी यजमान के लिये करोगे), वह सब तुम्हारे लिये ही कल्याण कर सिद्ध होगा

(= तव भद्रम्); क्योंकि यजमान के सुखी और समृद्ध होने पर उसके द्वारा सम्पादित हवनादिक से अग्नि को ही सुख की प्राप्ति होती है।'

इसी प्रकार 'तव एतत् सत्यम्' में से 'एतत् सत्यम्' निकाल कर सा० उसका अर्थ यह करते हैं—'यह बात सत्य ही है अर्थात् कभी इसका उल्टा नहीं होता।'

४. **अङ्गिरः**—हे अंगारमय अंगिरा (अर्थात् अग्नि)!। अङ्गारेभ्यः सृतः इत्यङ्गिराः। यास्क भी 'अङ्गिरा अङ्गाराः' यह प्रतिपादित करते हैं, (दे-नि० ३।१७)। ऐतरेय-सम्प्रदाय वाले भी 'प्रजापति-दुहितृ-ध्यान' नामक आख्यान में यह मंतव्य प्रकट करते हैं कि—'येऽङ्गाराः आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' (दे०-ऐ० ब्रा० ८।१०)। प्रजापति की पुत्री शरीरधारिणी वाक् के यज्ञ स्थल पर आ उपस्थित होने पर कामोत्पीडित सूर्य और वरुण का जो रेतस्खलन हुआ, उसे वायु ने प्रवर्त्यमान यज्ञाग्नि में निक्षिप्त कर दिया, जिससे लपटों से तो 'भृगु' की और अङ्गारों से 'अङ्गिरस' नामक ऋषि की उत्पत्ति हुई। (दे०-बृहद्दे० ५।९७-९९)। इस प्रकार 'अङ्गिरस्' (= अङ्गिरा) ऋषि का जनक होने से भी अग्नि का 'अङ्गिरसत्व' सिद्ध हो जाता है।

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्।
नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥ ७ ॥

पदपाठ—**उप॑। त्वा॒। अ॒ग्ने॒। दि॒वेऽदि॑वे। दोषा॑ऽवस्तः। धि॒या। व॒यम्।**
नमः॑। भर॑न्तः। आ। इ॒म॒सि॒ ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम्—हे अग्ने! वयम् अनुष्ठातारो दिवे-दिवे प्रतिदिनम् दोषावस्तः रात्रावहनि च धिया बुद्ध्या, नमो भरन्तः नमस्कारं सम्पादयन्तः उप समीपे त्वा एमसि त्वामागच्छामः। **उपशब्दस्य** निपातस्वरः (फि० ४-१२)। 'त्वामौ द्वितीयायाः' (८।१।२३) इति **युष्मच्छब्दस्यानुदात्तस्त्वादेशः। दोषाशब्दो** रात्रिवाची **वस्त**रित्यहर्वाची। द्वन्द्वसमासे कतिकौजपादित्वात् (३।८।२७) आद्युदात्तः। 'सावेकाचः' (६।१।१६८) इति **धियो** विभक्तिरुदात्ता। **नम** इति निपातः। **भरन्त** इत्यत्र शपः पित्वाच्चतुर्थसार्वधातुकत्वाच्चानुदात्तत्वे सति धातुस्वरः शिष्यते। **इमसी**त्यत्र-'इदन्तो मसि' (७।१।४६) इत्यादेशो निघातश्च ॥ ७ ॥

हिन्दी—रात्रि को प्रकाश युक्त बना देनेवाले [दोषा-वस्तः] हे अग्नि! [अग्ने!] हम [वयम्] प्रतिदिन [दिवे-दिवे] नमस्कार [नमः] करते हुये [भरन्तः] (अपनी) बुद्धि से [धिया] तुम्हारे [त्वा] समीप [उप] आते हैं [आ + इमसि] ॥ ७ ॥

टिप्पणियाँ—१. **उप त्वा** = त्वाम् उप = तुम्हारे समीप। इस 'उप' को

'एमसि' (= आ + इमसि) क्रिया-पद के साथ भी संयुक्त किया जा सकता है। तब भी 'उप एमसि' (= समीप आते हैं) वही अर्थ होगा। उप + एमसि = उपेमसि (एङि पररूपम्) का लोक में 'उपेमः' बनता है।

२. **दोषावस्तः**—दोषा रात्रिः, तस्याः वस्ता प्रकाशकः = दोषावस्ता, तत्सम्बुद्धौ दोषावस्तः = हे रात्रि को प्रकाशित कर देने वाले! सा० 'दोषा' का अर्थ 'रात्रि' और 'वस्तः' का 'दिन' करके इसे द्वन्द्वसमास युक्त बतलाते हैं। किन्तु मैक० ने इसका भली भाँति खण्डन करके इसे सम्बोधन का रूप स्वीकारा है (दे०—वै० री० पृ० ८ पर 'दोषावस्तः' के अन्तर्गत टिप्पणी)। हमें भी यही मान्य है। मैक०—'दोषा' का अर्थ 'अन्धकार' करके 'दोषावस्तः' को 'अन्धकार को आलोकित करने वाला अर्थात् अन्धकारोच्छेदक' के रूप में ग्रहण करते हैं। बात वही है। 'दोषावस्तः' विषयक विशेष जानकारी हेतु दे०—'प्रिंसेज़ ऑफ़ वेल्स, सरस्वती भवनस्टडीज़,' भाग ८, पृ० ९१–९६।

३. **धिया**—बुद्धि, विचार, भक्ति, मानसिक स्तुतिपूर्वक। 'उप-एमसि' के पूर्व 'धिया' लगा देने से यह फलित होता है कि—'हम तुम्हारे पास पूरे भक्ति-भाव से आते हैं, तुमसे संघर्ष आदि के लिये नहीं।'

४. **भरन्तः**—√भृ (= धारण करना) + शतृ प्रत्यय, प्रथमा, बहुव०।

राज॑न्तमध्व॒राणां॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑विम्।

वर्ध॑मानं॒ स्वे दमे॑॥ ८॥

पदपाठ—राज॑न्तम्। अ॒ध्व॒राणा॑म्। गो॒पाम्। ऋ॒तस्य॑। दीदि॑विम्।

वर्ध॑मानम्। स्वे। दमे॑॥ ८॥

सायणभाष्यम्—पूर्वमंत्रे 'त्वामुपेम' इत्यग्निमुद्दिश्योक्तम्। कीदृशं त्वाम्? राजन्तं देदीप्यमानम्। अध्वराणां राक्षसकृतहिंसारहितानां यज्ञानाम्। गोपाम् रक्षकम्। ऋतस्य सत्यस्यावश्यम्भाविनः कर्मफलस्य दीदिविम् पौनःपुन्येन भृशं वा द्योतकम्। आहुत्याधारमग्निं दृष्ट्वा शास्त्रप्रसिद्धं कर्मफलं स्मर्यते। स्वे दमे स्वकीयगृहे यज्ञशालायां हविर्भिः वर्धमानम्। **राजन्तं वर्धमान**मित्यत्रो-भयत्र पूर्ववद्धातुस्वरः शिष्यते। **दीदिविं** शब्दस्य 'अभ्यस्तानामादिः' (६।१। १८९) इत्याद्युदात्तत्वम्। **दमशब्दो** वृषादित्वात् (६।१।२०३) आद्युदात्तः॥८॥

हिन्दी—(हिंसा-रहित) यज्ञों के [अध्वराणाम्] रक्षक [गोपाम्] सत्य के [ऋतस्य] प्रकाशक [दीदिविम्], अपने [स्वे] गृह में (अर्थात् यज्ञशाला में) [दमे] वृद्धि को प्राप्त होने वाले [वर्धमानम्] (तथा) प्रकाश-युक्त [राजन्तम्] (हे अग्नि! हम तुम्हारे पास आते हैं)॥ ८॥

टिप्पणियाँ—१. राजन्तम्—√राज् (= चमकना) + शतृ, पुल्लिंग, द्वितीया, एक व० । = (अग्नि), जो कि प्रकाशमान है । मैक० 'राज्' को 'शासन करना' वाची मानकर इसे 'अध्वराणाम्' से संयुक्त करते हैं और 'अध्वराणां राजन्तम्' का अर्थ 'यज्ञों पर शासन करने वाला' करते हैं । यही मत वे० मा० का भी है (दे०—ईशानं यज्ञानाम्)। सम्बन्धवाचक शब्द सम्बन्धी शब्द का पूर्ववर्ती हुआ करता है । इस न्याय से हम 'राजन्तम्' को स्वतंत्र पद मान कर 'अध्वराणां गोपाम्, ऋतस्य दीदिविम्' आदि योजना मानने के पक्षपाती हैं । सा० स्वयं 'राजन्तम्' को 'गोपाम्' का विशेषण मान कर चलते हैं, किन्तु उसमें भी हमें कोई औचित्य दृष्टिगत नहीं होता ।

२. ऋतस्य—'ऋत' का अर्थ है 'सत्य'। सा० इसका अर्थ 'अवश्यंभावी कर्मफल' करते हैं तथा मैक० इसे 'प्राकृतिक विधान' अर्थ में स्वीकारते हैं ।

३. गोपाम्—√गुप् (= रक्षा करना) से निष्पन्न इस पद का पर्याय लोक में 'गोपम्' (= रक्षकम्) है । वेद में ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं ।

४. दीदिविम्—√दिव् (= चमकना, प्रकाशित करना) + क्विन् । दीव्यति इति दीदिविः, तम् । सा० इसे 'ऋतस्य' से संयुक्त करके '(सत्य का पुनः-पुनः अथवा अत्यधिक) द्योतक' अर्थ करते हैं । उनका मत है कि अवश्यम्भावी कर्मफल ही 'सत्य' है और आहुति के आधार-भूत अग्नि को देख कर वह सत्य-भूत शास्त्र-प्रसिद्ध कर्म-फल स्मृत हो उठता है; यही 'ऋत का द्योतन' है । मैक० इसे 'प्रकाशमान' अर्थ में ग्रहण करके 'ऋतस्य गोपाम्' से संयुक्त कर देते हैं । इस प्रकार उनके मत में—'ऋतस्य दीदिविम् गोपाम्' = प्राकृतिक विधान का देदीप्यमान रक्षक ।

५. दमे—घर में अर्थात् यज्ञशाला में । भाव यह है कि आहुति आदि पाकर वेदिका-स्थित अग्नि प्रदीप्त हो उठती है । यही उसका 'अपने घर में वृद्धि को प्राप्त होना' है । 'गृह' वाची 'दम' शब्द वेद में तो बहु-प्रचलित है, किन्तु लोक में यह सर्वथा अप्राप्त है ।

विशेष—इस मंत्र के प्रथम और तृतीय चरण में एक अक्षर कम होने से यहाँ 'विराट् गायत्री' छन्द है । दे०—'द्वाभ्यां विराट् स्वराजौ' (पिं० ३।६०)।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।

सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

पदपाठ—**सः । नः । पिताऽइव । सूनवे । अग्ने । सुऽउपायनः । भव ।**

सचस्व । नः । स्वस्तये ॥ ९ ॥

सायणभाष्यम्—हे अग्ने ! स त्वं नः अस्मदर्थं सूपायनः शोभनप्राप्ति-युक्तो भव। तथा नः अस्माकं स्वस्तये विनाशराहित्यार्थं पिता सुप्रापः प्रायेण समवेतो भवति तद्वत्। सचस्वा। छान्दसो दीर्घः। समवेतो भव। **अस्म-च्छब्दादेशस्य** न इत्येतस्य 'अनुदात्तं सर्वम्' (८।१।१८) इत्यनुदात्तत्वम्। 'चादयोऽनुदात्ताः' (फि० ४।१६) इति **इवशब्दो**ऽनुदात्तः। 'इवेन नित्यसमासः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं न वक्तव्यम्' (२।१।४।२) इति समस्त **पितेवेति शब्दो** मध्योदात्तः। [**सूपायनशब्दस्य**] शोभनमुपायनं यस्येति बहुव्रीहौ 'नञ्-सुभ्याम्' (७।२।१७२) इत्यन्तोदात्तत्वम्। **सचस्वेत्यत्र** पदात्परत्वं नास्तीति न निघातः, सार्वधातुकानुदात्तत्वे सति धातुस्वरावशेषः ॥ ९ ॥

हिन्दी—हे अग्नि ! [अग्ने !] पूर्वोक्त गुण-युक्त तुम [सः] हमारे लिये [नः] (उसी प्रकार) सुगम [सु-उपायनः] बन जाओ [भव], जिस प्रकार [इव] पुत्र के लिये [सूनवे] (उसका) पिता [पिता]; (तथा) हमारे [नः] कल्याण के लिये [स्वस्तये] (हमारे साथ) निवास करो [सचस्व] ॥ ९ ॥

टिप्पणियाँ—१. **सः**—सा० इसे 'त्वम्' का वाचक मानते हैं, मैक० इसका 'इस प्रकार' 'इसलिये' अर्थ स्वीकारते हैं।

२. **नः**—प्रथम-प्रयुक्त 'नः' चतुर्थ्यन्त है, दूसरा षष्ठ्यन्त। मैक के अनुसार द्वितीय 'नः' द्वितीयान्त है।

३. **पितेव**—पिता + इव। पदपाठ में इसका विग्रह न किये जाने से प्रतीत होता है कि उस समय 'इव' अन्य पदों से मिल कर 'समस्त पदों' (= समासबद्ध शब्दों) की सृष्टि करता था। जिस प्रकार वेद में 'मातृ' शब्द प्रायः 'पुत्र' शब्द के साथ आया है, इसी प्रकार 'पिता' और 'सूनु' शब्दों का समवाय भी प्रायेण प्राप्त है। दे०—'पितेव सोम सूनवे सुशेवः' (ऋग्० ८।४८।४)

४. **सूपायनः**—सु + उपायनः। सु सुखेन उपायनम् उपगमनं प्रापणं वा यस्य, सः=सुगम, सुप्राप्य।

५. **सचस्वा**—छन्द-पूर्ति के लिए यह क्रिया-पद दीर्घान्त है, अन्यथा इसका ह्रस्वान्त रूप 'सचस्व' ही प्राप्त होता है।

६. **स्वस्तये**—सु + √अस् (= होना) + क्तिन् प्रत्यय = स्वस्ति, चतुर्थी, एक व० = स्वस्तये। ध्यातव्य है कि वेद में 'स्वस्ति' शब्द अव्यय-रूप नहीं है, जैसा कि लोक में।

विष्णुसूक्तम्

(ऋग्० १ । १५४)

[इसके ऋषि 'दीर्घतमा', देवता 'विष्णु', छन्द 'त्रिष्टुप्' और स्वर 'धैवत' हैं ।]

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१॥

पदपाठ—विष्णोः । नु । कम् । वीर्याणि । प्र । वोचम् यः । पार्थिवानि । विऽममे । रजांसि । यः । अस्कभायत् । उत्ऽतरम् । सधऽस्थम् । विऽचक्रमाणः । त्रेधा । उरुऽगायः ॥ १ ॥

सायणभाष्यम्—"विष्णोर्नुकम्" इति षड्-ऋचं पञ्चदशं सूक्तं दैर्घतमसं त्रैष्टुभं वैष्णवम् । अत्रानुक्रमणिका—"विष्णोः षड् वैष्णवं हि" इति । अभिप्लवषडहेषूक्थ्येषु तृतीयसवने स्तोमवृद्धावच्छावाकस्य स्तोमातिशंसनार्थम् इदमादिसूक्तद्वयं विनियुक्तम् । 'स्तोमे वर्धमाने' इति खण्डे सूत्रितम्—"विष्णोर्नुकम् इति सूक्ते परो मात्रयेत्यच्छावाकः" (आश्व० श्रौ० ७।९) इति । तथा तृतीयसवने सोमातिरेक उत्तरोत्तरसंस्थोपगन्तव्या आतिरात्रात् ततोऽप्यतिरिक्ते तदर्थमेव शस्त्रमुपजनयितव्यम् । तत्रैतदेव सूक्तम् । "सोमातिरेके" इति खण्डे सूत्रितम्—"महाँ इन्द्रो नृवद्विष्णोर्नु कम्" (आश्व० श्रौ० ६।७) इति । आग्निमारुतशस्त्रे आद्या विनियुक्ता । "अथ यथेतम्"—इति खण्डे सूत्रितम्—"विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि" (आश्व० श्रौ० ५।२०) इति ।

हे नरा विष्णोर्व्यापनशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु कमिति शीघ्रं प्रवोचं प्रब्रवीमि । अत्र यद्यपि नु कमिति पदद्वयं, तथापि यास्केन—"नवोत्तराणि पदानि" (निघं० ३।१२) इत्युक्तत्वात्, शाखान्तरे एकत्वेन पाठाच्च, नु इत्येतस्मिन्नेवार्थे नु कमिति पदद्वयम् । कानि तानीति तत्राह । यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रञ्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीन्यग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे । अत्र त्रयो लोका अपि पृथिवीशब्दवाच्याः । तथा च मन्त्रान्तरम्—"यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः" (ऋ० १।१०८।९) इति । तैत्तिरीयेऽपि—"योस्यां पृथिव्यामस्यायुषा" इत्युपक्रम्य "यो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्याम्"

39945

(तै० सं० १।२।१३।१) इति। तस्माल्लोकत्रयस्य पृथिवीशब्दवाच्यत्वम्। किञ्च यश्च विष्णुरुत्तरमुद्गततरमतिविस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूतमन्तरिक्षमस्कभायत् तेषामाधारत्वेन स्तम्भितवान् निर्मितवानित्यर्थः। अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं भवति। यद्वा—यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या अधस्तनसप्तलोकान् विममे विविधं निर्मितवान्। रजःशब्दो लोकवाची, "लोका रजांस्युच्यन्ते" (निरु० ४।१९) इति यास्केनोक्तत्वात्। किञ्च यश्चोत्तरमुद्गततरमुत्तरभाविनं सधस्थं सह स्थानं पुण्यकृतां सहनिवासयोग्यं भूरादिलोकसप्तकमस्कभायत् स्कम्भितवान् सृष्टवानित्यर्थः।

स्कम्भेः 'स्तम्भुस्तुम्भु' इति विहितस्य श्नः 'छन्दसि शायजपि' (पा० ३।१।८४) इति व्यत्ययेन शायजादेशः। अथवा पार्थिवानि पृथिवीनिमित्तकानि रजांसि लोकान् विममे। भूरादिलोकत्रयमित्यर्थः। भूम्यामुपार्जितकर्मभोगार्थत्वादितरलोकानां तत्कारणत्वम्। किञ्च यश्चोत्तरमुत्कृष्टतरं सर्वेषां लोकानामुपरिभूतम्। अपुनरावृत्तेस्तस्योत्कृष्टत्वम्। सधस्थमुपासकानां सहस्थानं सत्यलोकमस्कभायत् स्कम्भितवान् ध्रुवं स्थापितवानित्यर्थः। किं कुर्वन्। त्रेधा विचक्रमाणस्त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् लोकान् विविधं क्रममाणः। विष्णोस्त्रेधा क्रमणम्—"इदं विष्णुर्विचक्रमे" (ऋ० १।२२।१७) इत्यादि श्रुतिषु प्रसिद्धम्। अत एवोरुगायः उरुभिर्महद्भिर्गीयमानः अतिप्रभूतं गीयमानो वा। य एवं कृतवान् तादृशस्य विष्णोर्वीर्याणि प्र वोचम् ॥ १ ॥

हिन्दी—(मैं) अब [नु कम्] विष्णु के [विष्णोः] वीर-कर्मों को [वीर्याणि] उद्घोषित करता हूँ [प्र वोचम्], जिसने [यः] पृथ्वी से सम्बन्धित [पार्थिवानि] स्थानों को (अथवा लोकों को) [रजांसि] नाप लिया है (अथवा निर्मित किया है) [विममे] (तथा) तीन प्रकार से [त्रेधा] (लोकों में) गति करते हुये [विचक्रमाणः] जिस [यः] विस्तीर्ण-गति वाले (अथवा सर्वव्यापक) (विष्णु) ने [उरुगायः] ऊर्ध्व-स्थित [उत्तरं] मिलन-स्थान को [सधस्थं] स्थिर कर दिया है [अस्कभायत्] ॥ १ ॥

टिप्पणियाँ—१. **विष्णो** :—'विष्णु' का व्युत्पत्ति-परक अर्थ मैकडानेल ने 'कर्मठ, उद्योगी अथवा सक्रिय' (√विष्) ओल्डेनबर्ग ने 'अति उद्यमशील' (वि + स्नु), ब्लूमफील्ड ने 'उच्च-शिखर-आरोही' (वि + स्नु = शिखर), सायण ने 'व्यापनशील अथवा सर्वव्यापक' ('विष्लृ व्याप्तौ') और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने क्रमशः 'व्यापक' (√विश् = व्याप्त होना) और 'गतिमान्' (√विश् = गति करना) किया है। दया० की दूसरी निरुक्ति यहाँ अधिक समीचीन प्रतीत होती है।

२. **नु कम्**—सा०—'शीघ्र', मैक०—'अब', दया०—नु = शीघ्र; कम् = सुख।

३. **वीर्याणि**—वीर + यत्, प्रथमा, बहु०।

४. **प्रवोचम्**—प्र + √वच् + लुङ्, उत्तम पु०, एक व०।

५. **पार्थिवानि**—पृथिव्या इमानि इति पार्थिवानि। पृथिवी + अण्।

६. **पार्थिवानि रजांसि**—मै०—पृथ्वी और उससे संलग्न वायुलोक। सा०—(क) पृथ्वी आदि लोकत्रय अर्थात् पृथ्वी अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के अभिमानी देवता—अग्नि, वायु और आदित्य (ख) पृथ्वी से नीचे स्थित सात लोक—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल (ग) पृथ्वी-निमित्तक तीन लोक—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक (पृथ्वी पर किये गये कर्मों के फलानुसार ही पृथक्-पृथक् उक्त लोकों की प्राप्ति होती है)। महीधर—(क) पृथ्वी आदि लोकत्रय (ख) पार्थिव परमाणु।

७. **विममे**—वि√मा (= नापना अथवा निर्माण करना) + लिट्, अन्य पु०, एक व०। मैक०—नाप लिया, सा०, मही०—बनाया। मैक० के मत में इसका संकेत सूर्य के ब्रह्माण्ड-भ्रमण की ओर है। वरुण के सम्बन्ध में कहे गये निम्नस्थ मंत्रांश से इस मत का पोषण होता है—

'मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण'। (ऋ० ५।८५।५) (= जिस वरुण ने वायु लोक में स्थित होकर, सूर्य के द्वारा, मानों किसी माप-दण्ड से ही पृथ्वी को नाप लिया)।

८. **अस्कभायत्**—√स्कभ् + लङ्, अन्य पु०, एक व०। आकाश को सहारा देने का काम विष्णु के अलावा सविता, अग्नि तथा अन्य कई देवताओं का भी बतलाया गया है। 'यो अस्कभायत्' में 'एङः पदान्तादति' (पा० ६।१।१०९) से 'पूर्वरूप' एकादेश न होना इन मंत्रों की प्राचीनता का द्योतक है।

९. **उत्तरम्**—उत् + तरप् = ऊर्ध्वतर। तरप् प्रत्यय से युक्त 'ऊर्ध्व' वाची 'उत्' उपसर्ग का विशेषण के रूप में प्रयोग दर्शनीय है।

१०. **सधस्थम्**—सह स्थानम् इति सधस्थं। वेद में प्रायः 'स्थ' के पूर्व प्राप्य 'सह' को 'सध' हो जाता है। मैक०—स्वर्ग ('सधस्थं' के लिये विशेषणभूत 'उत्तरं' पद के प्रयोग से सृष्टि के 'इहलोक' और 'परलोक' इस द्विधा विभाजन की ओर संकेत मिलता है)। सा०—(क) सह-स्थान अर्थात् लोकत्रय का आश्रयभूत **'अन्तरिक्ष लोक'** (ख) सह-स्थान अर्थात् पुण्यशालियों के मिलकर रहने का स्थान 'लोक सप्तक' (ग) सह-स्थान अर्थात् विष्णु के उपासकों के मिल कर रहने का स्थान **'सत्य लोक'**। शतपथ०—द्युलोक।

११. विचक्रमाणः—वि + √क्रम् (= गति करना) + कानच् ।

१२. त्रेधा—मैक०—तीन बार (त्रेधा विचक्रमाणः = तीन पग चलकर), सा०—तीन प्रकार से (त्रेधा विचक्रमाणः = अपने बनाये लोकों में तीन प्रकार से गति करता हुआ)। यहाँ विष्णु के सृष्टि, पालन और संहार इन तीन कर्मों की ओर सम्भवतः संकेत किया गया है।

१३. उरुगायः—उरु √गै + अच् । मैक०—लम्बे-लम्बे डग भरने वाला, पीट०—दूरगामी, सा०—(क) बहुतों अथवा महान् व्यक्तियों द्वारा स्तुति किया गया (ख) अत्यधिक स्तुति किया गया ।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्व् अधिक्षियन्ति भुवनानि । विश्वा ॥२॥

पदपाठ—प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्येण । मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिऽस्थाः । यस्य उरुषु । त्रिषु । विऽक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा ॥ २ ॥

सायणभाष्यम्—तृतीयसवने सोमातिरेक एव शस्त्रमुपजनयितव्यम् । तत्र 'प्र तत्' इत्ययमनुरूपस्तृचः । 'सोमातिरेके' इति खण्डे सूत्रितम्—'प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण स्तोत्रियानुरूपौ' (आश्व० श्रौ० ६।७) इति । 'वाजपेये-नाधिपत्यकामः' इति खण्डे सूत्रितम्—'प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नाम (ऋ० ७।१००।५) प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण' (आश्व० श्रौ० ९।९) इति ।

यस्येति वक्ष्यमाणत्वात् स इत्यवगम्यते । स महानुभावो वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण स्तवते स्तूयते सर्वैः । कर्मणि व्यत्ययेन शप् । वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्तः । मृगो न सिंहादिरिव । यथा स्वविरोधिनो मृगयिता सिंहो भीमो भीतिजनकः कुचरः कुत्सितसिंहादिकर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता वा गिरिष्ठाः पर्वताद्युन्नतप्रदेशस्थायी सर्वैः स्तूयते । अस्मिन्नर्थे निरुक्तम्—"मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः । मृग इव भीमः कुचरो गिरिष्ठा मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणो भीमो बिभ्यत्यस्माद् भीष्मोऽप्येतस्मादेव । कुचर इति चरति कर्म कुत्सितम् । अथ चेद्देवताभिधानं क्वायं न चरतीति वा । गिरिष्ठा गिरिस्थायी । गिरिः पर्वतः समुद्गीर्णो भवति । पर्ववान् पर्वतः । पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा" (निरु० १।२०) इति । तद्वदयमपि मृगोऽन्वेष्टा शत्रूणां भीमो भयानकः सर्वेषां भीत्यपादानभूतः । परमेश्वराद् भीतिः—'भीषास्माद् वातः पवते' (तै० आ० ८।८।१) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धा । किञ्च कुचरः शत्रुवधादिकुत्सितकर्मकर्ता कुषु सर्वासु भूमिषु लोकत्रये सञ्चारी वा तथा गिरिष्ठा गिरिवदुच्छ्रितलोकस्थायी । यद्वा । गिरि मन्त्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः । ईदृशोऽयं स्वमहिम्ना

स्तूयते । किञ्च यस्य विष्णोरुरुषु विस्तीर्णेषु त्रिसंख्याकेषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अधिक्षियन्त्याश्रित्य निवसन्ति । स विष्णुः स्तूयते ॥ २ ॥

हिन्दी—भयानक [भीमः], दुर्गम स्थलों में विचरण करने वाले [कु-चरः] (तथा) पर्वत पर रहने वाले [गिरिष्ठाः] हिंस्र जन्तु के समान [मृगो न] सबके लिये भय-आपादक [भीमः] सभी लोकों में सञ्चरण करने वाला [कु-चरः] (तथा) गिरिवद् उन्नत लोक का निवासी (अथवा वाणी में निवास करने वाला) [गिरिष्ठाः] वह विष्णु [तद् विष्णुः] (अपने) वीर-कर्मों के कारण [वीर्येण] स्तुति किया जाता है [प्र स्तवते], जिसके [यस्य] तीन [त्रिषु] विस्तृत [उरुषु] पद-क्रमों में [विक्रमणेषु] सम्पूर्ण [विश्वा] लोक (अथवा तत्रस्थ प्राणी) (भुवनानि) विद्यमान रहते हैं (अथवा आश्रित रहते हैं) (अधिक्षियन्ति) ॥ २ ॥

टिप्पणियां—१. **प्र**—वेद में प्रायः उपसर्गों का प्रयोग क्रियापद से पृथक् हुआ है ।

२. **तत्**—'व्यत्ययो बहुलम्' से यहाँ पुंल्लिग के स्थान पर नपुंसकलिंग का प्रयोग प्राप्त है । रॉथ इसे 'वीर्येण' का विशेषण, ग्रॉसमन 'स्तवते' का कर्म तथा मैक० प्रथम मंत्र में मायो 'वीर्याणि' का निर्देशक मानते हैं । किन्तु यह सब व्यर्थ का श्रम है । 'यत्तदोर्नित्यम्' की दृष्टि से 'तत्' का अर्थ 'सः' ही होगा, और कुछ नहीं ।

३. **स्तवते**—'स्तूयते' के स्थान पर 'स्तवते' का प्रयोग कर्मवाच्य में ही हुआ है । तुल्य०—ऋ० ५।१०।७ 'स्तवसे' ऋ० ६।२६।८ 'स्तवन्ते' तथा ऋ० ८।२४।१६ 'स्तवते' ।

४. **वीर्येण**—समस्त सृष्टि-रचना एक ही कर्म है, इसलिये यहाँ संक्षेप में एक वचनान्त 'वीर्येण' का प्रयोग हुआ है । ग्रॉस० इसका अर्थ 'सामर्थ्य' तथा लुडविग् 'शक्ति' करते हैं । पीट० 'वीर्येण' को क्रिया-विशेषण मानते हैं तथा 'स्तवते' के प्रयोग को कर्तृवाच्य । उनके अनुसार—'विष्णुः प्रस्तवते'=विष्णु प्रशंसा करता है, यथा 'वीर्येण प्रस्तवते' = बल देकर अर्थात् उद्घोषपूर्वक उसका विकत्थन करता है ।

५. **मृगो न भीमः**—सा०—सिंह के समान भयानक । मैक०—'भीमः' का प्रयोग वेद में 'सिंह' और 'वृषभ' दोनों के लिये मिलता है, किन्तु अग्रिम 'गिरिष्ठाः' का प्रयोग 'वृषभ' के लिये तो तीन-चार बार हुआ है, जबकि 'सिंह' के लिये कभी नहीं, इस लिये 'वन्यपशु (अर्थात् वृषभ) के समान भयंकर' ।

पं० चट्टोपाध्याय के मत में यह हिंसक जन्तु व्याघ्र हो सकता है। यह हमें भी अभिमत है।

सायण का अनुकरण करते हुए पीट० ने यहाँ 'मृग' को 'सिंह' ही मान कर इसे उत्तर-कालिक 'नृसिंहावतार' का प्रेरणा-स्रोत माना है। 'सिंह' अर्थ हमें इस लिये अमान्य है क्योंकि उस समय आर्यों का सिंहों के निवास भूत प्रदेशों में प्रवेश नहीं हो पाया था।

डॉ० सुधीर कुमार गुप्त ने एक नवीन अर्थ की उद्भावना की है। उनके अनुसार—मृगः = गति-शील (√मृज् = जाना) अथवा खोजने योग्य (√मृग् = खोजना), न भीमः = जो भयंकर कदापि नहीं 'अपितु सौम्य है—ऐसा विष्णु।

६. **कुचरः**—ऋग्वेद में इसका प्रयोग केवल एक बार और हुआ है (दे०—ऋ० १०।१८०।२)। वहाँ इसका सम्बन्ध 'इन्द्र' से है। यास्क-(क) हिंसा आदि कुत्सित कर्म करने वाला—(ख) कहाँ नहीं जाने वाला अर्थात् सर्वव्यापक (कु अथवा क्व + चर् + ट्)। सायण—(क) यास्क-सम्मत अर्थ (ख) सभी लोकों अर्थात् तीनों लोकों में विचरण करने वाला।

७. **गिरिष्ठाः**—मैक०—पर्वतों में विचरण करने वाला। सा०—(क) गिरिवद् उन्नत लोक का निवासी (ख) मंत्ररूपा वाणी में सर्वदा विद्यमान।

८. **त्रिषु विक्रमणेषु**—प्रथम मंत्र के समान यहाँ भी सत्य, रजस् और तमस् इन तीन गुणों का निर्देश माना जा सकता है। क्योंकि इन्हीं के सहारे समस्त प्राणी स्थित हैं।

९. **विश्वा**—'विश्वानि'। वेद में 'नपुं' के प्रथमा और द्वितीया बहुव० के प्रत्यय 'शि' (= इ) का अनेक बार लोप प्राप्त होता है।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।

य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥ ३॥

पदपाठ— प्र। विष्णवे। शूषम्। एतु। मन्म। गिरिऽक्षिते। उरुऽगायाय। वृष्णे। यः। इदम्। दीर्घम्। प्रऽयतम्। सधऽस्थम्। एकः। विऽममे। त्रिऽभिः। इत्। पदेभिः॥३॥

सायणभाष्यम्—विष्णवे सर्वव्यापकाय शूषमस्मत्कृत्यादिजन्यं बलं महत्त्वं मन्म मननं स्तोत्रं मननीयं शूषं बलं वा विष्णुमेतु प्राप्नोतु। कर्मणः—सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कीदृशाय। गिरिक्षिते वाचि गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते। उरुगायाय बहुभिर्गीयमानाय। वृष्णे वर्षित्रे कामानाम्। एवम्महानुभावं शूषं

प्राप्नोतु। कोऽस्य विशेष इत्युच्यते। यो विष्णुरिदं प्रसिद्धं दृश्यमानं दीर्घमतिविस्तृतं प्रयतं नियतं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयमेक इदेक एवाद्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैर्विममे विशेषेण निर्मितवान् ॥ ३ ॥

हिन्दी—वाणी में निवास करने वाले [गिरिक्षिते], विस्तृत गति वाले [उरुगायाय] तथा (अनन्त) वीर्य वाले [वृष्णे] विष्णु के निमित्त [विष्णवे] (हमारा) स्फूर्त्तिदायक [शूषम्] स्तोत्र [मन्म] पहुँचे [प्र एतु], जिस (विष्णु) ने [यः] अकेले ही [एकः इत्] इस [इदं] विस्तृत [दीर्घम्] (और) स्थिर [प्रयतं] सहनिवासस्थान को [सधस्थम्] (अपने) तीन पदों से [त्रिभिः पदेभिः] नाप लिया है (अथवा निर्मित किया है) [विममे] ॥३॥

टिप्पणियाँ—१. शूषम्—यास्क-(क) बल (ख) सुख। सा०-बल। दया०-बल। मैक०-उत्साहप्रद, स्फूर्तिदायक। लुड०-शक्ति के लिए (अर्थात् सामर्थ्य प्रदान करने के लिए)। 'शूषं' और 'मन्म' को विशेषण-विशेष्य मानना ही उचित है। सायण ने भी एक अर्थ में 'मननीयं शूषम्' (= प्रशंसनीय बल) लिखा है।

२. गिरिक्षिते उरुगायाय वृष्णे—मैक० के अनुसार पूर्ववर्ती मन्त्र में प्राप्त 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' से इसका पूर्ण साम्य है। दे०-गिरिक्षिते > गिरिष्ठाः, उरुगायाय > कुचरः, वृष्णे > मृगो न भीमः।

३. वृष्णे—मैक्स०-वीर्य-सेचन करने वाला (√वृष्)। सा०-कामनाओं की वर्षा करने वाला। मैक०-(वीर्यवान्) वृषभ। दया०-(अनन्त) वीर्य वाला।

४. दीर्घं प्रयतम्—मैक०-लम्बे और विस्तृत। सा०-विस्तृत और नियत।

५. सधस्थम्—मैक०—सहनिवासस्थान अर्थात् पृथ्वी (क्योंकि पहले 'उत्तरं सधस्थं' का अर्थ 'स्वर्ग' किया जा चुका है)। सा०—सहस्थान अर्थात् लोकत्रय। सायणीय अर्थ ही अधिक प्रकरणोपयोगी है।

६. त्रिभिः पदेभिः—सा० और मैक०—तीन पदों से। दया०—स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म अंशों से।

७. विममे—वि + √मा + लिट्। अन्य पु०, एक व०। मैक०—नाप लिया। सा०-निर्मित किया।

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्य् अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्याम् एको दाधार भुवनानि विश्वा ॥४॥

पदपाठ— यस्य। त्री। पूर्णा। मधुना। पदानि। अक्षीयमाणा। स्वधया। मदन्ति। यः। ऊँ। त्रिऽधातु। पृथिवीम्। उत। द्याम्। एकः। दाधार। भुवनानि। विश्वा ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम्—यस्य विष्णोर्मधुना मधुरेण दिव्येनामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्रीणि पदानि पादप्रक्षेपणान्यक्षीयमाणाक्षीयमाणानि स्वधयान्नेन मदन्ति मादयन्ति तदाश्रितजनान्। य उ य एव पृथिवीं प्रख्यातां भूमिं द्यामुत द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि चतुर्दशलोकांश्च। यद्वा। पृथिवीशब्देनाधोवर्तीन्यतलवितलादिसप्तभुवनान्युपात्तानि। द्युशब्देन तदवान्तररूपाणि भूरादिसप्तभुवनानि। एवं चतुर्दशलोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि। त्रिधातु। त्रयाणां धातूनां समाहारस्त्रिधातु। पृथिव्यप्तेजोरूपधातुत्रयविशिष्टं यथा भवति तथा दाधार धृतवान्। तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घत्वम्। उत्पादितवानित्यर्थः। छन्दोगारण्यके—'तत्तेजोऽसृजत तदन्नमसृजत ता आप ऐक्षन्त' इति भूतत्रयसृष्टिमुक्त्वा 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवतास्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि' (छा० उ० ६।२।३-४) इत्यादिना त्रिवृत्करणसृष्टिरुपपादिता। यद्वा। त्रिधातु कालत्रयं गुणत्रयं वा दाधारेत्यन्वयः॥ ४॥

हिन्दी—जिस (विष्णु) के [यस्य] मधु से भरे हुए [मधुना पूर्णा] तीन पद [त्रीणि पदानि] (कभी) क्षीण न होते हुये [अक्षीयमाणा] (दिव्य) अन्न से [स्वधया] (आश्रित जनों को) तृप्त करते हैं [मदन्ति] (तथा) जिसने निश्चय ही, [य उ] तीन धातुओं से युक्त होकर [त्रिधातु], पृथ्वी [पृथिवीं], द्युलोक [द्याम्] और [उत] सम्पूर्ण लोकों को [विश्वा भुवनानि] अकेले ही [एकः] धारण किया है [दाधार]॥ ४॥

टिप्पणियाँ—१. **त्री, पूर्णा, अक्षीयमाणा, विश्वा**—क्रमशः त्रीणि, पूर्णानि, अक्षीयमाणानि और विश्वानि के वैदिक रूप।

२. **मधुना**—सा०—मधुर दिव्य अमृत से। दया०—मधुर आदि गुण से। मै०—मधु-निर्मित मदिरा से। इसका अर्थ 'पदानि' के अर्थ के अनुरूप ही किया जाना चाहिये। मैक० ने 'पदानि' का अर्थ 'विष्णु के पदों में रहने वाले प्राणी' किया है, इस लिये संगति बैठ जाती है। 'पदानि' का अर्थ 'पद' करने पर 'मधुना पूर्णा' का अर्थ 'मधु से परिपूर्ण' न करके 'प्राण (= शक्ति) से परिपूर्ण' अर्थ करना न्यायोचित होगा। 'प्राण' वाची 'मधु' का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है।

३. **आक्षीयमाणा**—अ + √क्षी + शानच्। सा०—बिना क्षीण हुए। मैक०—विना असफल हुये।

४. **स्वधया**—सा०—अन्न से। मैक०—आनन्द से। रॉथ—आनन्द पूर्वक, स्वेच्छापूर्वक, निर्विघ्न रूप से (क्रियाविशेषण)। पीट०—आनन्द पूर्वक, स्वाधीनता से (क्रि० वि०)। मैक्स०—'स्वधया मदन्ति' = (क) अन्न से आनन्दित होते हैं (ख) प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

५. उ—सा०—एव। मैक०—भी। दया०—पादपूरक। डॉ० सुधीर कुमार गुप्त के अनुसार इसका अर्थ 'और' होना चाहिये।

६. त्रिधातु—सा०—पृथिवी, जल और तेज से युक्त होकर (क्रि० वि०)। मैक०—तीन प्रकार से, तीन पग चलकर (क्रि० वि०)। पीट० 'त्रिधातु' को 'पृथिवीमुतद्याम्' का समानाधिकरण मान कर दोनों को एक ही भाव का द्योतक मानते हैं—'पृथिवी और द्युलोक ही त्रिविध जगत् हैं।' दया० 'त्रिधातु' को 'पृथिवीमुतद्यां' और 'विश्वाभुवनानि' का विशेष मान कर इसका अर्थ 'सत्व, रजस् और तमस् आदि धातुओं वाले' करते हैं। सा० 'त्रिधातु' का अर्थ आगे चल कर 'कालत्रय' तथा 'गुणत्रय' करके उसे 'दाधार' क्रियापद से अन्वित करते हैं।

७. दाधार—√धृ + लिट्। अन्य पु०, एक व०। ह्विटनी के अनुसार धातु के द्वित्व रूप में प्रथम अक्षर को प्रायः दीर्घ हो जाता है।

८. विश्वा भुवनानि—सा०—सभी लोकों को। मैक०—सभी प्राणियों को।

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥५॥

पदपाठ—तत्। अस्य। प्रियम्। अभि। पाथः। अश्याम्। नरः। यत्र। देवऽयवः। मदन्ति। उरुऽक्रमस्य। सः। हि। बन्धुः। इत्था। विष्णोः। पदे। परमे। मध्वः। उत्सः ॥५॥

सायणभाष्यम्—आतिथ्यायां 'तदस्य' इत्येषा प्रधानस्य याज्या। 'अथातिथ्या' इति खण्डे सूत्रितम्—'इदं विष्णुर्विचक्रमे, तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्' (आश्व० श्रौ० ४।५) इति ॥ अस्य महतो विष्णोः प्रियं प्रियभूतं तत् सर्वैः सेव्यत्वेन प्रसिद्धं पाथः। अन्तरिक्षनामैतत्, 'पाथोऽन्तरिक्षं पथा (नि० २।२८) व्याख्यातम्' (निरु० ६।७) इति यास्केनोक्तत्वात्। अविनश्वरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः। अश्याम्। व्याप्नुयाम्। तदेव विशिष्यते। यत्र स्थाने देवयवो देवं द्योतनस्वभावं विष्णुमात्मन इच्छन्तो यज्ञदानादिभिः प्राप्तुमिच्छन्तो नरो मदन्ति तृप्तिमनुभवन्ति। तदश्यामिति अन्वयः। पुनरपि तदेव विशेष्यते। उरुक्रमस्यात्यधिकं सर्वं जगदाक्रममाणस्य तत्तदात्मना, अत एव विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य परमे उत्कृष्टे निरतिशये केवलसुखात्मके पदे स्थाने मध्वो मधुरस्योत्सो निष्यन्दो वर्तते। तदश्याम्। यत्र क्षुत्तृष्णाजरामरणपुनरावृत्त्यादिभयं नास्ति, सङ्कल्पमात्रेणामृतकुल्यादिभोगाः प्राप्यन्ते तादृशमित्यर्थः। ततोऽधिकं नास्तीत्याह। इत्था इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धुः स खलु सर्वेषां सुकृतिनां बन्धुभूतो

हितकरो वा, तस्य पदं प्राप्तवतां न पुनरावृत्तेः । 'न च पुनरावर्तते' (छा० उ० ८।१५।१) इति श्रुतेस्तस्य बन्धुत्वम् । हिशब्दः सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धिद्योतनार्थः ॥ ५ ॥

हिन्दी—इस (विष्णु) के [अस्य] उस [तत्] प्रिय [प्रियं] स्थान को [पाथः] (मैं) प्राप्त कर सकूँ [अभि अश्याम्], जहाँ [यत्र] देव-पूजक जन [देवयवः] (परम) प्रसन्नता को प्राप्त करते हैं [मदन्ति] । विस्तीर्ण गति वाले [उरुक्रमस्य] विष्णु के [विष्णोः] परमपद (= सर्वोत्तम लोक) में [परमे पदे] मधु का [मध्वः] स्रोत [उत्सः] (है) । इस प्रकार [इत्था] वह (विष्णु) [सः] निश्चय ही [हि] (हमारा) हितैषी [बन्धुः] (है) ॥५॥

टिप्पणियाँ—१. **तत्**—सा० इसका अनुवर्तन 'अश्याम्' से करते हैं—'तद् अश्याम्' । मै०—'पाथः' का विशे० ।

२. **पाथः**—सा०—अन्तरिक्ष अर्थात् ब्रह्मलोक । मैक०—अधिकृत प्रदेश । दया०—मार्ग । पीट०—घर ।

३. **अभि अश्याम्**—मैक०—अभि√अंश् (= पहुँचना) + लुङ्, उत्तम पु०, एक व० । सा०—अभि√अंश् (= व्याप्त होना) + विधिलिङ्, उत्तम पु०, एक व० ।

४. **यत्र**—विष्णु के तृतीय पद में अर्थात् स्वर्ग में, जहाँ कि पितरगण यम के साथ सोमरस का पान करते हैं । सा०—'पाथः' से सम्बद्ध ।

५. **देवयवः**—देवं देवान् वा आत्मन इच्छतीति देवयुः, उसका प्रथमा, बहु व०, पुंल्लिङ्ग । सा०—विष्णु को पाने के इच्छुक जन । मैक०—देवों के उपासक जन । पीट०—देवभीरु जन ।

६. **उरुक्रमस्य**·····**आदि**—सा०—'स हि बन्धुरित्था' को निक्षेप-वाक्य तथा 'उरुक्रमस्य विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः' को प्रधान-वाक्य मानते हैं । रॉथ और ग्रॉस० दोनों को पृथक् स्वतन्त्र वाक्य मानते हैं—१ 'उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था' = वहाँ शक्तिशाली गन्ता के मित्रों का समाज है (दे०—'इत्था' का अर्थ 'वहाँ' और 'बन्धुः' का अर्थ 'मित्रों का समाज' अर्थात् 'स्वर्ग-समाज' किया गया है ।) २ 'विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः'=विष्णु के सर्वोच्च निवासस्थान में माधुर्य का निर्झर है ।

७. **सः**—मैक०—इसमें 'पाथः' का निर्देश मानते हैं तथा 'बन्धुः' के सामीप्य के कारण उसमें नपुंसक लिंग के स्थान पर पुंल्लिङ्ग के प्रयोग को उचित ठहराते हैं ।

८. **इत्था**—इदम् + था । पिशेल 'इत्था' और 'एत्थ' को समीकृत मानकर इसका अर्थ 'यहाँ' करते हैं । किन्तु यह असङ्गत है ।

९. **मध्वः**—'मधुनः' का वैदिक रूप ।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥ ६ ॥

पदपाठ—ता। वाम्। वास्तूनि। उश्मसि। गमध्यै। यत्र। गावः।
भूरिऽश्रृङ्गाः। अयासः। अत्र। अह। तत्। उरुऽगायस्य।
वृष्णः परमम्। पदम्। अव। भाति। भूरि॥ ६ ॥

सायणभाष्यम्—हे पत्नीयजमानौ वां युष्मदर्थं ता तानि गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धानि वास्तूनि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि गमध्यै युवयोर्गमनायोश्मसि कामयामहे। तदर्थं विष्णुं प्रार्थयाम इत्यर्थः। तानीत्युक्तं कानीत्याह। यत्र येषु वास्तुषु गावो रश्मयो भूरिश्रृङ्गा अत्यन्तोन्नत्युपेता बहुभिराश्रणीया वायासोऽयना गन्तारोऽतिविस्तृताः। यद्वा। यासो गन्तारः। अतादृशाः अत्यन्तप्रकाशयुक्ता इत्यर्थः। अत्राह अत्र खलु वास्त्वाधारभूते द्युलोके उरुगायस्य बहुभिर्महात्मभिर्गातव्यस्य स्तुत्यस्य वृष्णः कामानां वर्षितुर्विष्णोस्तादृशं सर्वत्र पुराणादिषु गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धं परमं निरतिशयं पदं स्थानं भूर्यति प्रभूतमवभाति। स्वमहिम्ना स्फुरति। अयं मन्त्रो यास्केन गोशब्दो रश्मिवाचक इति व्याचक्षाणेन व्याख्यातः—'तानि वां वास्तूनि कामयामहे गमनाय यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा बहुश्रृङ्गा भूरीति बहुनो नामधेयं प्रभवतीति सतः। श्रृङ्गं श्रयतेर्वा श्रृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वायासोऽयनाः। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागतेः परमं पदं परार्ध्यस्थमवभाति भूरि। पादः पद्यते' (निरु० २.७) इति॥ ६॥

हिन्दी—(हम), आप दोनों के [वाम्] उन [ता] लोकों को [वास्तूनि] जाने की (अर्थात् प्राप्त करने की) [गमध्यै] इच्छा करते हैं [उश्मसि], जहाँ [यत्र] बड़े-बड़े सींगों वाली [भूरिश्रृङ्गाः] गतिशील [अयासः] गायें [गावः] (हैं)। निश्चय ही [अह] वहाँ [अत्र] विस्तीर्ण गति वाले [उरुगायस्य] वीर्यशाली (विष्णु) का [वृष्णः] वह परम पद [तत् परमं पदम्] अत्यधिक [भूरि] प्रकाशित होता है [अव भाति]।

टिप्पणियाँ—१. **ता**—'तानि' का वैदिक रूप।

२. **वाम्**—यह 'युष्मद्' शब्द की क्रमशः द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी इन तीनों विभक्तियों का द्विवचनान्त रूप है। सा० इसे 'चतुर्थी' तथा मैक० आदि अन्य विद्वान् 'षष्ठी' का रूप मानते हैं। सा० ने यहाँ यजमान और उसकी पत्नी का निर्देश माना है तथा उनके निमित्त वैष्णव लोकों की प्राप्ति की कामना स्वीकार की है। पीट० ने सा० के मत का खण्डन करते हुए 'वाम्' को षष्ठ्यन्त मानकर उससे विष्णु के किसी सहचारी देवता का निर्देश हुआ

बतलाया है। किन्तु पीट० उस सहचारी देवता का नाम नहीं बतला पाये हैं। रॉथ ने इस पर यह कल्पना कर डाली कि यह मन्त्र प्रस्तुत 'विष्णुसूक्त' का न होकर 'मित्रावरुण-सूक्त' का है। मैक० ने इसका अनौचित्य बतलाते हुये 'इन्द्र' को 'विष्णु' का सहचारी देवता कल्पित किया है। हमें भी यह अभिमत है, क्योंकि इस 'विष्णुसूक्त' के अगले सूक्त (अर्थात् ऋग्० १।१५५) के प्रथम दो पद्यों में 'इन्द्राविष्णू' का स्तवन प्राप्त भी है, जो उक्त कल्पना का कथमपि प्रत्यायक है।

३. **उश्मसि**—√वश् (= इच्छा करना), लट् लकार, उत्तम पु०, बहुव० का वैदिक रूप।

४. **गमध्यै**—√गम् (= जाना) + अध्यैन् प्रत्यय, जिसका प्रयोग वेद में 'तुमुन्' के अर्थ में होता है।

५. **गावः**—सा०—किरणें। रॉथ और पीटर्सन—नक्षत्रगण। मैक०—सायणीय अर्थ ही सम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि 'उषस्' की किरणों की गायों से उपमा दी गई है और कभी-कभी जब इसे सूर्य-प्रकाश से सम्बन्ध कर दिया जाता है तो वह 'प्रकाश-लोक' भूत विष्णु के तृतीय पद के सर्वथा अनुरूप ही होता है।

६. **भूरिशृङ्गाः**—सा०—अत्युन्नत या सबके लिये सेवनीय (पूर्वोक्त 'किरणे')। दया०—उत्कृष्ट तेजों वाली। पीट०—असंख्य किरणों वाले (पूर्वोक्त तारे) मैक० का विचार है कि यह पद सूर्य-किरणों के, विभिन्न स्थानों की ओर गमन का निर्देशक है।

हमारे मत में इसका अर्थ 'बड़ी-बड़ी सींगों वाली' और 'गावः' का अर्थ 'गायें' ही अधिक उचित है, क्योंकि 'विष्णु' का गायों और गोपों से भी सम्बन्ध प्रसिद्ध है। दे०—'विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः' (ऋग्० ३।५५।१०), 'गोपा अदाभ्यः' (ऋग्० १।२२।१८)।

७. **अयासः**—सा०—(क) अति विस्तृत (ख) अत्यधिक प्रकाश युक्त। ऋग्० में प्रयुक्त 'अयासम्' (द्वितीया, एक व०), 'अयासः' (द्वितीया, बहु व०) और 'अयासाम्' (षष्ठी, बहुव०) आदि रूपों को देखकर मैक० यह निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रस्तुत पद का मूल रूप 'अयास्' है तथा सिंह अश्व और प्रायः मरुतों का विशेषण होने से इसका अर्थ 'सक्रिय' 'वेगवान्' और 'चपल' होना चाहिए। रॉथ भी इसे 'अ + यास √यस् = जाना' से निष्पन्न मान कर मैक० द्वारा प्रस्तुत अर्थों के ही पर्याय गिनाने लगते हैं। पीट०—न थकने वाली।

इन्द्रसूक्तम्

(ऋग्० २।१२)

[इसके ऋषि 'गृत्समद', देवता 'इन्द्र', छन्द 'त्रिष्टुप्' और स्वर 'धैवत' हैं।]

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ।

यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥१॥

पदपाठ—यः । जातः । एव । प्रथमः । मनस्वान् । देवः । देवान् ।

क्रतुना । परि ऽ अभूषत । यस्य । शुष्मात् । रोदसी इति ।

अभ्यसेताम् । नृम्णस्य । मह्ना । सः । जनासः । इन्द्रः ॥१॥

सायणभाष्यम्—द्वितीयेऽनुवाक एकादश सूक्तानि । तत्र 'यो जात' इति पञ्चदशर्चं प्रथमं सूक्तं गार्त्समदं त्रैष्टुभमैन्द्रम् । संसवे निष्केवल्ये निवद्धानीयस्य पुरस्ताद् 'यो जात एव' इति [सूक्तं] शंसेत् । 'यदि पर्यायान्' इति खण्डे सूत्रितम्—'यो जात एवेति निष्केवल्ये' (आश्व० श्रौ० सू० ६।६) इति । आभिप्लविके तृतीयेऽहनि 'यो जात एव' इति निविद्धनीयम् । सूत्रितं च—'तृतीयस्य त्र्यर्यमा यो जात एवेति मध्यन्दिनः' (आश्व० श्रौ० सू० ७।७) इति विश्वजिति माध्यन्दिनसवने मैत्रावरुणः स्वशस्त्रे प्राकृतात् सूक्तात् पूर्वं 'यो जात' इति सामसूक्तं शंसेत । 'विश्वजितोऽग्निं नरः' इति खण्डे सूत्रितम्—'सत्रा मदासो यो जात एवाभूरेक इति सामसूक्तानि' (आश्व० श्रौ० सू० ८।७) इति । अग्निष्टुन्निष्केवल्ये निविद्धानमिदम् 'श्येनाजिराभ्याम्' इति खण्डे सूत्रितम्—'तिष्ठा हरी [इति] यो जात एवेति मध्यन्दिनः' (आश्व० श्रौ० सू० ९।७) इति । महाव्रते निष्केवल्ये 'यो जात एव' इति सूक्तम् 'उरू' इति खण्डे सूत्रितम्—'वने न वा यो न्यधायि चाकन् यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (ऐ० आ० ५।१२) इति ॥

अत्रेतिहासो बृहद्देवतायाम् (४।६५-७९)

उक्तः—'संयुज्य तपसात्मानमैन्द्रं बिभ्रन्महद् वपुः ।

अदृश्यत मुहूर्तेन दिवि च व्योम्नि चेह च ॥

तमिन्द्र इति मत्वा तु दैत्यौ भीमपराक्रमौ ।

धुनिश्च चुमुरिश्चोभौ सायुधावभिपेततुः ॥

विदित्वा स तयोर्भावमृषिः पापं चिकीर्षतोः ।

यो जात इति सूक्तेन कर्माण्यैन्द्राण्यकीर्तयत् ॥'(बृ० ४।६६-६८)

अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति—पुरा किलेन्द्रादयो वैन्ययज्ञं समाजग्मुः। गृत्समदोऽपि तत्रागत्य सदस्यासीत्। दैत्याश्चेन्द्रजिघांसया तत्र समागमन्। तान् दृष्ट्वा निर्जगामिन्द्रो यज्ञाद् गृत्समदाकृतिः। स च गृत्समदो वैन्येन पूजितो यज्ञवाटान्निरगच्छत्। निर्गच्छन्तं तमृषिं दृष्ट्वायमेवेन्द्र इति मन्यमानास्तमसुराः परिवव्रुः। नाहमिन्द्रस्तुच्छः किन्त्वेवंगुणोपेतः स इत्यनेन सूक्तेन तान् प्रत्युवाच॥

अपरे त्वेवं कथयन्ति—गृत्समदस्य यज्ञे प्रविष्टमेकाकिनमिन्द्रं ज्ञात्वासुराः परिवव्रुः। स इन्द्रो गृत्समदरूपेण यज्ञवाटान्निर्गत्य स्वर्गं जगाम। ततोऽसुरा इन्द्रो विलम्बित इत्यन्तः प्रविश्य गृत्समदं दृष्ट्वा पूर्वमेव गृत्समदो गतः, अयं त्विन्द्रोऽस्मद्भयाद् गृत्समदरूपेणास्ति इति तं जगृहुः। स तान् नाहमिन्द्रोऽयमित्यनेन सूक्तेन प्रत्युवाच। अयमेवार्थो महाभारते प्रपञ्चितः।

गृत्समदो ब्रूते—जनासो जना हे असुरा यो जात एव जायमान एव सन् प्रथमो देवानां प्रधानभूतो मनस्वान् मनस्विनामग्रगण्यो देवो द्योतमानः सन् क्रतुना वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वान् यागदेवान् पर्यभूषत् रक्षकत्वेन पर्यगृहीत्। 'भूष् अलङ्कारे' भूषादिः, लङि रूपम्। यद्वा—सर्वानन्यान् देवान् पर्यभूषत् पर्यभवद् अत्यक्रामत्। अस्मिन्पक्षे भवतेर्व्यत्ययेन क्सः। 'श्र्युकः किति' (पा० ७।२।११) इतीट्प्रतिषेधः। यस्येन्द्रस्य शुष्मात् शरीरात् बलाद् रोदसी द्यावापृथिव्याभ्यसेतामबिभीताम्। 'भ्यस् भये' अनुदात्तेत्। 'भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः' (निघं० ३।२१) इति नैरुक्ताः।

अभ्यसेतामवेपेतां वा। तथा च मन्त्रान्तरम्—'इ॒मे चि॒त्तव॒ म॒न्यवे॒ वेपै॑ते भि॒यसा॑ म॒ही' (ऋ० १।८०।११) इति। नृम्णस्य सेनालक्षणस्य बलस्य मह्ना महत्त्वेन युक्तः स इन्द्रो नाहमिति। अथ निरुक्तम्—'यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभवत् पर्यगृह्णात् पर्यरक्षदत्यक्रामदिति वा। यस्य बलात् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीतां नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन स जनास इन्द्र इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (निरु० १०।१०) इति॥ १॥

हिन्दी—जिस [यः] मनस्वी [मनस्वान्] देव ने [देवः] पैदा होते ही [जात एव] सर्वप्रधान बनकर [प्रथमः 'सन्'] (अपने) कर्म से [क्रतुना] (सभी) देवों को [देवान्] अतिक्रान्त कर दिया (अथवा सभी ओर से अलंकृत कर दिया) [पर्यभूषत्], जिसकी [यस्य] प्रचण्डता से [शुष्मात्] (और) बल की [नृम्णस्य] महिमा से [मह्ना] द्युलोक और पृथिवी लोक [रोदसी] काँपते रहे हैं [अभ्यसेताम्]; हे पुरुषो [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः]॥ १॥

टिप्पणियाँ—१. मनस्वान्—सा०—मनस्वी जनों में अग्रगण्य। मैक०—बुद्धिमान्। पीट०—'भयङ्कर'। मनस् + मतुप् प्रत्यय।

२. क्रतुना—सा०—वृत्र-वध आदि स्वकीय कर्म से। मैक०—शक्ति से। रॉथ—शक्ति से। दया०—(अपने) प्रकाश कर्म से।

३. पर्यभूषत्—सा०—(क) रक्षा-कर्म से अभिभूत किया (ख) अतिक्रमण कर गया। मै०—सायणीय द्वितीय अर्थ 'अतिक्रमण कर गया'। तै० सं०—नीचा दिखा दिया। रॉथ और पीट०—सुशोभित किया (परि + अभूषत्)। परि + √भूष् + लङ् लकार। अन्य पु०, एक व०।

४. शुष्मात्—सा०—शरीर से, बल से। मैक०—प्रचण्डता से। पीट०—श्वास से (√श्वस् = श्वास लेना)।

५. रोदसी—'रोदस्यौ' का वैदिक रूप। यह द्युलोक और पृथ्वी का संयुक्त नाम है (दे०—निघं० ३।३०।४)। तै० (२।२।९।४) में 'यदरोदीत् (प्रजापतिः) तदनयोः (द्यावापृथिव्योः) रोदस्त्वम्' कहा गया है।

६. अभ्यसेताम्—सा०—भयभीत रहते हैं। मैक०—काँपते हैं। दया०—अलग-अलग होते हैं। ध्यातव्य है कि दया०—इन्द्र को सूर्यवाची मानते हैं। रात्रि के अन्धकार में द्युलोक और पृथ्वी एक दूसरे से अलग नहीं दिखलाई देते। सूर्य-प्रकाश से उनका अलगाव दृष्टिगत होता है। √भ्यस् + लङ् लकार, अन्य पु०, द्वि व०।

७. नृम्णस्य मह्ना—सा०—सेना रूप बल की महिमा से। मैक०—साहस या बल की महानता के कारण। दया०—धन की महिमा से। मह्ना = महिमन् + तृतीया वि०, एक व०, वैदिक रूप।

८. स जनास इन्द्रः—इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र को छोड़कर शेष सभी मन्त्रों में यह पद-समूह प्राप्त है। जनासः = जनाः का वैदिक रूप।

पीट०—का कथन है कि सायणीय अर्थ 'मैं नहीं, वह इन्द्र है' बृहद्देवता की उस उपहासास्पद कथा पर आधारित है, जिसका उन्होंने उल्लेख किया है। पं० चट्टो० भी सायणीय भाष्य में प्राप्त तीनों कथाओं को गल्प मात्र मानते हैं।

९. इन्द्रः—दया० = परम ऐश्वर्यवान् (√'इदि परमैश्वर्ये') अर्थात् परमेश्वर, सूर्य, राजा और विद्वान् आदि। डा० फतेहसिंह ने वैदिक साहित्य से इसकी लगभग १७ व्युत्पत्तियाँ संगृहीत की हैं (दे०—वै०ए०, पृ० ९४;१०२)।

'इन्द्र' ऋग्वेद के धर्म में सर्वप्रमुख देवता है। प्रायः इसे सूर्य का ही रूप माना जाता है।

यः पृ॑थि॒वीं व्यथ॑मान॒मदृं॑ह॒द्यः पर्व॑ता॒न्प्रकु॑पिताँ॒ अर॑म्णात्।
यो अ॒न्तरि॑क्षं वि॒म॒मे वरी॑यो॒ यो द्याम॒स्त॑भ्ना॒त्स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥२॥

पदपाठ—यः । पृथिवीम् । व्यथमानाम् । अदृंहत् । यः । पर्वतान् । प्रऽकुपितान् । अरम्णात् । यः । अन्तरिक्षम् । विऽममे । वरीयः । यः । द्याम् । अस्तभ्नात् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ २ ॥

सायणभाष्यम्—हे जना य इन्द्रो व्यथमानां चलन्तीं पृथिवीमदृंहत् शर्करादिभिर्दृढामकरोत् । 'दृह दृहि [बृह बृहि] वृद्धौ' । यश्च प्रकुपितानितस्ततश्चलितान् पक्षयुक्तान् पर्वतानरम्णान्नियमितवान् स्वे स्वे स्थाने स्थापितवान् । अरम्णात्—'रमु क्रीडायाम्' अन्तर्भावितण्यर्थस्य व्यत्ययेन श्नाप्रत्ययः । यश्च वरीय उरुतममन्तरिक्षं विममे निर्ममे विस्तीर्णं चकारेत्यर्थः । यश्च द्यां दिवमस्तभ्नात् तस्तम्भ निरुद्धामकरोत् । 'स्तम्भु रोधने' इति सौत्रो (पा० ३।१।८२, ८।३।११६) धातुः । स एवेन्द्रो नाहमिति ॥ २ ॥

हिन्दी—जिसने [यः] कम्पायमान [व्यथमानाम्] पृथ्वी को [पृथिवीं] दृढ़ बनाया है [अदृंहत्], जिसने [यः] चलायमान [प्रकुपितान्] पर्वतों को [पर्वतान्] शान्त कर दिया है [अरम्णात्], जिसने [यः] विस्तृत [वरीयः] अन्तरिक्ष लोक को [अन्तरिक्षं] नाप लिया है (अथवा निर्मित किया है) [विममे] (तथा) जिसने [यः] द्युलोक को [द्याम्] स्तब्ध (= स्थिर) बना दिया है [अस्तभ्नात्], हे पुरुषों [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः] ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१. **व्यथमानाम्**—√व्यथ् (=चलना) + शानच् प्रत्यय, स्त्रीलि०, द्वि० वि०, एक व० ।

२. **अदृंहत्**—√दृंह् + लङ् लकार, अन्य पु०, एक व० । पृथ्वी के स्थिरीकरण के सम्बन्ध में एक आख्यान बड़ा प्रचलित है । कहा जाता है कि 'पर्वत' प्रजापति के बड़े पुत्र थे । पंख-युक्त होने से वे स्वेच्छानुसार उड़ कर, जहाँ चाहते, जा बैठते थे । इस तरह पर्वतों के सतत स्थान-परिवर्तन से पृथ्वी डाँवाडोल हो गया करती थी । इन्द्र ने उन पर्वतों के पंख काटकर उन्हें अमुक-अमुक स्थान पर प्रस्थापित कर दिया और इस प्रकार पृथ्वी को स्थिर बनाया । पर्वतों के कटे हुये पंख बादल बन गये जो कि अपने उसी पूर्व सम्बन्ध के कारण पर्वतों के शिखरों का आश्रय लिया करते हैं । (दे०—मैत्र १०सं०१।१०।१३)

३. **प्रकुपितान्**—प्र√कुप् (= गति करना) + क्त प्रत्यय, पुल्लिंग, द्वितीया वि०, बहु व० । सम्भवतः अति प्राचीन काल में 'कुप्' धातु गत्यर्थक मानी जाती थी । कालान्तर में 'क्रोध करना' अर्थ में प्रयुक्त होने लगी । ऋग्वेद

में पदान्त 'आन्' को स्वर परे रहने पर 'आँ' हो जाता है। इस वैदिक सन्धि के लिये तुल०—'चिकित्वाँ' (ऋग्० १।२५।११)।

३. **अरम्णात्**—√रम् (= विश्राम करना) + लङ्, लकार, अन्य पु०, एक व०। 'रम्' धातु का प्रयोग वेद में 'विश्राम करना' अर्थ का उद्बोधक था, जो कि कालान्तर में 'सर्वविध आनन्द का भोग करना' अर्थ में परिणत हो गया।

५. **वरीयः**—उरु (= बड़ा) + ईयसुन् प्रत्यय, नपुं० लिंग, द्वितीया वि०, एक व०। सा०—विस्तृत-तर (अन्तरिक्षं का विशे०) मैक०—अधिक विस्तार के साथ (क्रिया विशेषण)।

६. **द्याम्**—सा०—द्युलोक। मैक०—स्वर्ग। दया०—प्रकाश।

७. **अस्तभ्नात्**—√स्तभ् (= निरुद्ध करना) + लङ्, लकार, अन्य पु०, एक व०।

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा वलस्य।

यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः ॥३॥

पदपाठ—यः। हत्वा। अहिम्। अरिणात्। सप्त। सिन्धून्। यः। गाः। उत्ऽआजत्। अपऽधा। वलस्य। यः। अश्मनोः। अन्तः। अग्निम्। जजान। सम्ऽवृक्। समत्ऽसु। सः। जनासः। इन्द्रः॥ ३॥

सायणभाष्यम्—योऽहिं मेघं हत्वा मेघहननं कृत्वा। सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दनशीला अपोऽरिणात् प्रैरयत्। यद्वा सप्त गङ्गायमुनाद्या मुख्या नदीररिणात्। 'रीङ् स्रवणे' क्र्यादिः। यश्च वलस्य वलनामकस्यासुरस्य अपधा तत्कर्तृकान्निरोधान्निरुद्धा गा उदाजन्निरगमयत्। अपधा—अपपूर्वाद्दधातेः—'आतश्चोपसर्गे' (पा० ७।१।३९) इति पञ्चम्या आकारः। यश्चाश्मनोः—अश्नुते व्याप्नोत्यन्तरिक्षमित्यश्मा मेघः। अत्यन्तमृदुरूपयोर्मेघयोरन्तर्मध्ये वैद्युतमग्निं जजानोत्पादयामास। यश्च समत्सु—सम्भक्षयन्ति योद्धॄणामायूंषीति समदः सङ्ग्रामाः तेषु—संवृक् भवति। वृणक्तेर्हिंसार्थस्य क्विपि रूपम्। स इन्द्रो नाहमिति॥ ३॥

हिन्दी—जिसने [यः] अहि को [अहिं] मार कर [हत्वा] सप्त-संख्यक [सप्त] जल-धाराओं को [सिन्धून्] प्रवाहित किया है। [अरिणात्], जिसने [यः] वल के [वलस्य] बाड़े से [अपधा] गौओं को [गाः] बाहर निकाला है [उदाजत्], जिसने [यः] दो पत्थरों के [अश्मनोः] बीच में [अन्तः] अग्नि [अग्निम्] उत्पन्न की है [जजान] (तथा) जो [यः]

युद्धों में [समत्सु] हिंसाकर्म करने वाला [संवृक्] (है), हे पुरुषों ! [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र है [इन्द्रः] ॥ ३ ॥

टिप्पणियाँ—१. **अहिम्**—सा०—मेघ । मैक०—सर्प । इस 'अहि' पद के व्याख्यान में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । 'अहि' का 'वृत्र' से तादात्म्य निर्विवाद है, जो कि बहुधा जल को आवृत कर रखने वाला राक्षस कल्पित किया जाता है । इन्द्र-वृत्र-युद्ध ऋग्वेदीय आख्यानों में प्रधान हैं । सोम-पान कर के इन्द्र अपने सहायक मरुद्गणों के साथ अपने आयुध वज्र से वृत्र का वध करता है और अवरुद्ध जल-धाराओं को मुक्त करता है, जो कि रम्भाती हुई गायों की तरह सागराभिमुख दौड़ पड़ती हैं ।

'वृत्र' को इतिहास-वेत्ता 'त्वाष्ट्र असुर' मानते हैं । नैरुक्तमतावलम्बी उसे 'मेघ' मानते हैं । जर्मन विद्वान् हिलेब्राण्ट उसे पानी को जमा देने वाला 'शीताधिक्य' स्वीकारते हैं । भारतीय वेदविद् बाल गंगाधर तिलक उसे ध्रुवदेशीय 'दीर्घकालीन अंधकार' निरूपित करते हैं । इसे रात्रिगत अन्धकार का वाची भी माना गया है । आज एतद्विषयक मुख्य चार वाद प्रचलित हैं—(क) मेघवाद (ख) उषोवाद (ग) वसन्तवाद (घ) ध्रुवप्रदेशवाद (दे०—घाटे० पृ० १३७–१४१) ।

ध्यातव्य है कि इन्द्र ही नहीं, 'अग्निं', 'आपः' और 'देवाः' को भी वेद में वृत्र का हन्ता कहा गया है ।

'अहि' को कई प्रकार से व्युत्पन्न किया गया है—(१) √इण् (=गमन करना) + इन् (उणा० १।११४), (२) आङ् (उपसर्ग) √इण् (= हिंसा करना, गमन करना) + इन् (उणा० ४।१३३), (३) √अह् (= गमन करना) + इन् (उणा० ४।११४), (४) √अह् (= व्याप्त करना) + इन् (अह्नोति व्याप्नोति आकाशं दिगन्तराणि वा) (५) हन् + इन् = हिः, नञ् + हिः = अहिः (= मारने वाला) ।

(२) **अरिणात्**—सा०—प्रेरित किया । मैक०—मुक्त कर दिया । √रीङ् (= बहना) + लङ्, अन्य पु०, एक व० । इससे इन्द्र द्वारा वृत्र के मार डाले जाने का कथा-भाग निर्दिष्ट होता है । तुल०—'यो अपो वव्रिवांसं वृत्रं जघान' ऋग्० २।१४।२ (= जिसने जलों को अच्छादित कर रखने वाले वृत्र का वध किया) ।

(३) **सप्त सिन्धून्**—सा०—(क) सर्पणशील जल (ख) गंगा-यमुना आदि सात नदियाँ । मैक०—पंजाब की सात नदियाँ । मैक्स०—पंजाब की पांच नदियाँ तथा सिन्धु और सरस्वती । लुडविग्—मैक्स० की सात नदियों में 'सरस्वती' के स्थान पर 'कुभा' । सायण का प्रथम अर्थ बहुत

अच्छा है। दूसरे अर्थ में वे सम्भवतः 'गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥'—इस पौराणिक मंत्र में उल्लिखित सात नदियों की ओर संकेत करते हैं। ऋग्वेद कालिक आर्यों के पंजाब एवं सिन्धु-घाटी तक ही सीमित रहने से उक्त मत का खण्डन करने वाले मैक्समूलर भी सत्य से दूर ही लगते हैं, क्योंकि लुडविग्—उनकी गिनाई गई नदियों में 'कुमा' और थामस 'ओक्सस्' के लिये आग्रह करते हैं। सबसे अच्छे हैं जिम्मरमैन नदियों की संख्या के प्रति तो आस्थावान् है, उनकी पहचान के विषय में नहीं। यह मत भी असङ्गत नहीं लगता कि आर्यों को उस समय तक कुल सात नदियों का ही ज्ञान था, जिससे उन्होंने 'सब' के अर्थ में 'सप्त' का प्रयोग किया, क्योंकि यह उनकी प्रिय संख्या रही है। (दे०—पं० चेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, वैदिक भूगोल, भुवनकोष विशेषाङ्क, पृ० ४२–५०)।

४. **गाः**—'गो' का द्वितीया, बहु व०। सा० और मैक०—गायों को। दया०—पृथिवियों को।

५. **उदाजत्**—उत् + √अज् (= हाँकना, फेंकना) + लङ्, अन्य पु०, एक व०। सा० और मैक०—बाहर निकाला, हाँका। दया०—ऊपर प्रेरित किया (अर्थात् सभी पृथिवियों को एक के ऊपर एक करके उनका नियमन और चालन किया)।

गायों के बाहर निकाले जाने से ध्वनित होता है कि वल नामक राक्षस गायों का चोर था। इन्द्र उसे मार कर उस गुहा का मुख खोल देते हैं जिसमें उसने गायों को बन्द कर रक्खा था। मैक० ने इसकी पुष्टि में यह मंत्र उद्धृत किया है—'यो गा उदाजद् अप हि वलं वः' (ऋग्० २।१४।३) तथा 'त्वं वलस्य गोमतोऽपावर् बिलम्' (ऋग्० १।११।५) = 'तुमने गायों से भरे हुए वल के बिल को अनावृत कर दिया है।'

६. **अपधा**—केवल एक बार प्रयुक्त इस पद की व्याख्या संशयग्रस्त है। पीट० इसे अग्रिम मन्त्रस्थ 'गुहा' पद की तरह सप्तमी तथा रॉथ और मैक० आदि तृतीया का रूप मानते हैं। सा० इसमें पञ्चमी विभक्ति स्वीकारते हैं। मैक—इसे 'अप्ऽधा' सम्भावित करके इसका अर्थ 'खोल देने के कारण' करते हैं। अपने मत की पुष्टि में टिप्पणी नं० ५ में कथित दोनों उद्धरणों के अतिरिक्त 'निरुक्त' के टीकाकार दुर्ग का अभिमत 'अपधा = अपधानेन, उद्घाटनेन' भी उल्लिखित करते हैं। सा० ने इसका अर्थ 'बाड़े से' (पञ्चमी) किया है। दया० ने इसे प्रथमान्त मान कर 'योऽपदधाति सः अपधा' = 'धारण करने वाला' अर्थ स्वीकार किया है।

७. **वलस्य**—सा०—गायों का चोर वल नामक असुर, जिसका इन्द्र ने वध किया। मैक०—गायों का चोर कोई वास्तविक व्यक्ति [वलस्य अपधा= वल के (गुहाद्वार के) उद्घाटन के कारण]। दया—बल [वलस्य अपधा = वल का धारण करने वाला (इन्द्र)]। निघं० १।१०।४ में इसे 'मेघ' का पर्याय माना गया है।

वेद में इन्द्र के अतिरिक्त बृहस्पति, पितर एवं ऋत के धारक यजमानों को भी 'वल' का विनाशक कहा गया है।

८. **अश्मनोः अन्तः**—(√अश् = व्याप्त होना + मनिन्) (उणा० ४।१४४)। अश्नुते व्याप्नोति अन्तरिक्षं इति अश्मन्, तयोः। सा०—दो मेघों के बीच में। मै०—दो चट्टानों के बीच में। निरुक्त के टीकाकार दुर्ग—द्युलोक और पृथ्वी लोक के बीच में। अपनी टिप्पणियों में मैक० ने भी स्वीकार कर लिया है कि यहाँ वैद्युत् अग्नि (= सौदामिनी) का निर्देश है, जिसे कि 'चट्टानों में वर्तमान', 'चट्टानों से उत्पन्न होने वाला' और 'चट्टानों का पुत्र' कहा गया है। दे०—वै० री०, पृ० ४७।

९. **संवृक्**—सम्√वृ (= हिंसा करना) + क्विप्=हिंसा करने वाला। ऋग्० में इसका प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता। मै०—इसका अर्थ 'विजेता' करते हैं।

१०. **समत्सु**—सम्√अद् (= भक्षण करना) + क्विप्, सप्तमी, बहु व०। सम्भक्षयन्ति योद्धॄणां आयूंषि इति समदः, तेषु।

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥४॥

पदपाठ—येन। इमा। विश्वा। च्यवना। कृतानि। यः। दासम्। वर्णम्। अधरम्। गुहा। अकरित्यकः। श्वघ्नीऽइव। यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्। अर्यः। पुष्टानि। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम्—येनेन्द्रेणेमा इमानि विश्वा विश्वानि च्यवना नश्वराणि भुवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि। यश्च दासं वर्णं शूद्रादिकम्। यद्वा दासमुपक्षपयितारम्। अधरं निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकरकार्षीत्। करोतेर्लुङि 'मन्त्रेघस००' (पा० २।४।८०) इत्यादिना च्लेर्लुकि रूपम्। लक्षं लक्ष्यं जिगीवान्। 'जि जये' क्वसौ 'सन् लिटोर्जेः' (पा० ७।३।५७) इत्यभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम्। दीर्घश्छान्दसः। जितवान्। योऽर्योऽरेः। षष्ठ्येकवचने छान्दसो

यणादेशः । शत्रोः सम्बन्धीनि पुष्टानि समृद्धानि आदद् आदत्ते । तत्र दृष्टान्तः । श्वघ्नीव । श्वभिर्मृगान् हन्तीति श्वघ्नी व्याधः । यथा व्याधो जिघृक्षितं मृगं परिगृह्णाति तद्वत् ॥ ४ ॥

हिन्दी—जिसके द्वारा [येन] ये [इमा] सम्पूर्ण (पदार्थ) [विश्वा] गतिमान् [च्यवना] बनाये गये हैं [कृतानि], जिसने [यः]. दास वर्ण को [दासं वर्णम्] नीचा बना दिया [अधरं अकः] (और) गुफा में रख दिया है [गुहा अकः], विजय-प्राप्त [जिगीवान्] जुआरी के समान [श्वघ्नी इव] जिसने [यः] दाँव के धन के समान [लक्षं इव] शत्रु की [अर्यः] समृद्धियों को [पुष्टानि] छीन लिया है [आदत्], हे पुरुषों ! [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः] ॥ ४ ॥

टिप्पणियाँ—**१. इमा विश्वा च्यवना** [कृतानि]—इमानि, विश्वानि और च्यवनानि के वैदिक रूप । सा०—ये सम्पूर्ण नश्वर लोक [स्थिर बनाये गये हैं] । मै०—ये सम्पूर्ण (पदार्थ) अस्थिर (= च्यवना) [बनाये गये हैं] । दया०—ये (= इमा) प्राप्त हुए (= च्यवना) लोक (= विश्वा) [बनाये गये हैं] । पीट०—ये सम्पूर्ण (पदार्थ) उलट दिये अथवा हिला दिये गये हैं (= च्यवना कृतानि) । ग्रॉसमैन—ये सब (इमा विश्वा) चल पदार्थ (= च्यवना) निर्मित किये गये हैं (= कृतानि) । 'कृतानि' का सायणीय अर्थ 'स्थिर बनाये गये हैं' असङ्गत है, क्योंकि 'अचल' सृष्टि का निर्माण तो हो चुका । अब 'चल' की बारी है । तुल०—'यस्ता विश्वानि चिच्युषे' (ऋग्० ४।३०।२२) = 'जिसने सम्पूर्ण विश्वों को हिला दिया है ।' फिर प्रस्तुत सूक्त के नवें मन्त्र में भी तो इन्द्र को 'यो अच्युतच्युत्' (= जो स्थिर पदार्थों को गतिमान् बनाने वाला है) कहा गया है । सबसे उत्तम अर्थ हमें ग्रॉसमैन का लगता है ।

२. दासं वर्णम्—सा०—(क) शूद्र आदि को (ख) अपने निन्दक अथवा अपूजक को । मैक०—अनार्य वर्ण अर्थात् आदिवासी जन को । पीट०—विरोधी रङ्ग अर्थात् काली चमड़ी को (सम्भवतः यह उस समय गौरवर्ण जनों द्वारा श्यामवर्ण जनों को दी जाने वाली एक गाली थी) । रॉथ—राक्षसों की सन्तान । दया०—रूप को (= वर्णम्) दिये जाने योग्य (= दासम्) बनाया (= अकः) ।

ऋग्० में आर्यों की शत्रुभूत जन-जातियों को प्रायः 'दास' अथवा 'दस्यु' कहा गया है । कीथ आदि विद्वान् इन्हें 'अनार्य', राबर्ट शेफर सरीखे विद्वान् 'निषाद' और डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी आदि 'द्रविड़' स्वीकारते हैं । किन्तु पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के साथ यह हमारा भी अभिमत है कि उक्त पद सामान्यतः 'असुरों' के लिए ही प्रयुक्त होते थे ।

यदि 'दासं वर्णम्' का अर्थ 'काला रङ्ग' करके उससे 'अन्धकार' का ग्रहण किया जाय तो भी असङ्गति नहीं होगी। 'दस्यति प्रकाशमुपच्छिपति नाशयति इति दासः'—इस व्युत्पत्ति से 'दास' का अर्थ 'अन्धकार' होता भी है। सूर्य वाची इन्द्र इसी अन्धकार (= दासम्) को दूर करता है [गुफाओं में छिपा देता है। भाव यह है कि सूर्य के प्रकाश से निखिल भुवन आलोकित हो उठता है, केवल गहरी गुफाओं में उस समय अन्धकार बच रहता है।

३. **अधरं गुहाकः**—सा०—निकृष्ट असुर को (= अधरं) गुफा, गूढ स्थान अथवा नरक में (= गुहा) निक्षिप्त कर दिया है (अकः)। मैक०—नीचा बनाया (= अधरं अकः) और गुफा में स्थिर कर दिया अर्थात् छिपा दिया अथवा दूर कर दिया (= गुहा अकः)। दया०—हृदय के नीचे (= अधरं) हृदयाकाश में (= गुहा) स्थित कर दिया (= अकः)।

अकः = √कृ (= करना) + लुङ्, अन्य पु०, एक व० का वैदिक रूप। गुहा—सा० और मै० आदि सप्तमी का रूप मानते हैं, जब कि रॉथ और ग्रॉसमैन आदि इसे पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त तृतीया का रूप स्वीकारते हैं।

४. **श्वघ्नीव जिगीवाँ लक्षमादत्**—सा०—कुत्तों की सहायता से मृगादिक का वध करने वाले 'व्याध' (= श्वघ्नी) के समान (अपने) 'लक्ष्य'-भूत मृग आदि (= लक्ष्य) को जीत लेने वाला (= जिगीवान्) [जो इन्द्र अपने शत्रुओं की धन सम्पत्ति को] स्वायत्त कर लेता है (= आदत्)। मैक०—अपने लक्ष्यभूत दाँव में लगे धन को (= लक्षं) जीत लेने वाले (= जिगीवान्) जुआरी के समान (= श्वघ्नी इव)। दया०—कुत्तों को दंड देने वाले (= श्वघ्नी) के समान (= इव) जयशील लक्ष (= जिगीवाँ लक्षं) को ग्रहण करने वाला (= आदत्) अर्थात् परमेश्वर। रॉथ—मैक० द्वारा स्वीकृत अर्थ। ऑफ्रेण्ट—एक लाख (= लक्षं) जीत लेने वाले (= जिगीवान्) जुआरी के समान (= श्वघ्नीव)। पीट० के मत में इसका अर्थ बड़ा अनिश्चित-सा है। ऑफ्रेण्ट का अर्थ बड़ा रोचक है। जिस प्रकार लक्ष मुद्राओं को जीत लेने वाला जुआरी लपक कर उस दाँव के धन को समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्र भी अपने शत्रुओं की सम्पत्ति को हथिया लेता है।

जिगीवाँ—√जि (= जीतना) + क्वसु, प्रथमा वि०, एक व०, पुल्लिङ्ग। यहाँ 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० ८।३।९) के अनुसार 'जिगीवान्' के अन्तिम 'न्' को अनुनासिक हो गया है।

आदत्—आ + √दा + लुङ्, अन्य पु०, एक व०।

५. **अर्यः**—'अरि' (= शत्रु) का षष्ठी एक व० का वैदिक रूप। मै०—यह बहुव्रीहि समासयुक्त प्रतीत होता है (न विद्यन्ते रायः स्वस्मै परेभ्यो दातुं

वा स अरिः, तस्य = जिसके पास अपने लिए भी धन नहीं है, ऐसा 'निर्धन' अथवा जो दूसरों को अंशमात्र भी नहीं दे सकता, ऐसा 'कंजूस')।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥५॥

पदपाठ—यम् । स्म । पृच्छन्ति । कुह । सः । इति । घोरम् ।
उत । ईम् । आहुः । न । एषः । अस्ति । इति । एनम् ।
सः । अर्यः । पुष्टीः । विजःऽइव । आ । मिनाति । श्रत् ।
अस्मै । धत्त । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम्—अपश्यन्तो जना घोरं शत्रूणां घातकं यं पृच्छन्ति स्म कुह सेति स इन्द्रः कुत्र वर्तत इति । सेति—'सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्' (पा० ६।१।१३४) इति सोर्लोपे गुणः । न क्वदिचसौ तिष्ठतीति मन्यमाना जना एनमिन्द्रमाहुरेष इन्द्रो नास्तीति । तथा च मन्त्रः—'नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह' (ऋ० ८।१००।३) इति । ईमिति पूरणः । स इन्द्रो विज इव । इव शब्दः एवार्थे । उद्वेजक एव सन् । अर्योऽरेः सम्बन्धीनि पुष्टीः पोषकाणि गवाश्वादीनि धनानि । आ मिनाति सर्वतो हिनस्ति । 'मीङ् हिंसायाम्'। 'मीनातेर्निगमे' (पा० ७।३।८१) इति ह्रस्वः । तस्मात् श्रदस्मा इन्द्राय धत्त स इन्द्रोऽस्तीति विश्वासमत्र कुरुत । यद्यप्यसौ विशेषतोऽस्माभिर्न दृश्यते तथाप्यस्तीति विश्वासं कुरुत । एवं निर्धारणीयमहिमोपेतः स इन्द्रो नाहमिति ॥५॥

हिन्दी—जिस [यम्] भयंकर (देव) के विषय में [घोरम्] (लोग) पूछते आये हैं [पृच्छन्ति स्म] कि [इति] वह (इन्द्र) [सः] कहाँ है [कुह] और [उत ईम्] जिसके विषय में [यम्] (कुछ लोग] कहते हैं [आहुः] कि [इति] वह [एषः] (कहीं) नहीं है [न अस्ति], वह (इन्द्र) [सः] शत्रु की [अर्यः] सम्पत्तियों को [पुष्टीः] उद्वेजक के समान [विज इव] नष्ट कर देता (अथवा छीन लेता) है [आ मिनाति], (हे) पुरुषों ! [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः], उसमें [अस्मै] विश्वास [श्रत्] रक्खो (= धारण करो) [धत्त] ॥ ५ ॥

टिप्पणियाँ—१. **स्मा**—'स्म' का संहिता में दीर्घ हो गया है ।

२. **सेति**—सः + इति = स + इति = सेति । इस प्रकार की अव्यवस्थित सन्धि वेद में ही नहीं, लौकिक संस्कृत में भी पादपूर्ति के लिये स्वीकृत है । दे०—पा० ६।१।१३४ 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' ।

३. **घोरम्**—सा०—शत्रु-घातक । मैक०—भयंकर । औफ्रेण्ट—भयंकर रूप में (क्रि० वि०) ।

४. ईम्—सा०—पादपूरक है। दया०—सभी ओर से। मैक०—अग्रिम पद 'एनम्' का निर्देशक। पीट०—'ईम्' से निर्दिष्ट किया गया पद बहुधा आवृत्त किया जाता है; दे०—'एष' और 'एनम्'। निघं० ४।२।८० में इसे पदनाम मानकर इसे गति, ज्ञान और प्राप्ति का प्रकाशक माना गया है।

५. आहुः—√ब्रू (= कहना) + लिट् लकार, अन्य पु०, बहु व०। मैक०—√अह् + लिट्।

६. विज इव - सा०—उद्वेजक बनकर ही। दया०—भयचालित सा होकर। मैक०—(जुयें में) दाँव का धन।

७. श्रत्—विश्वास। 'श्रद्धा' का मूलरूप।

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥६॥

पदपाठ—यः। रध्रस्य। चोदिता। यः। कृशस्य। यः। ब्रह्मणः। नाधमानस्य। कीरेः। युक्तऽग्राव्णः। यः। अविता। सुऽशिप्रः। सुतऽसोमस्य। सः। जनासः। इन्द्रः ॥६॥

सायणभाष्यम्—यो रध्रस्य। 'रध हिंसासंराद्ध्योः'। समृद्धस्य। चोदिता धनानां प्रेरयिता भवति। यश्च कृशस्य दरिद्रस्य च यश्च नाधमानस्य। 'नाधृ णाधृ (नाथृ नाधृ) याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु'। याचमानस्य कीरेः। करोतेः कीर्तयतेर्वा। स्तोतुर्ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य च धनानां प्रेरयिता। यश्च सुशिप्रः शोभनहनुः सुशीर्षको वा सन् युक्तग्राव्णः अभिषवार्थमुद्यतग्राव्णः सुतसोमस्याभिषुतसोमस्य यजमानस्याविता रक्षिता भवति स एवेन्द्रो नाहमिति। ब्रह्मशब्दस्य त्वन्नपरत्वे ह्याद्युदात्तता स्याद्, यथा—'ब्रह्म वन्वानो अजरं सुवीरम्' (ऋ० ३।८।२) इति। अयं त्वन्तोदात्तः पठ्यत इति नान्नपरः ॥ ६ ॥

हिन्दी—जो [यः] समृद्ध का [रध्रस्य], जो [यः] निर्धन का [कृशस्य], जो [यः] याचना करने वाले [नाधमानस्य] स्तुति-परायण [कीरेः] ब्राह्मण का [ब्रह्मणः] प्रेरक है [चोदिता] (तथा) सुन्दर ओष्ठों वाला [सुशिप्रः] जो [यः] सिल-बट्टे का संयोग करने वाले [युक्तग्राव्णः] (और) सोम रस निकालने वाले (व्यक्ति) का [सुतसोमस्य] रक्षक है [अविता], हे पुरुषो! [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः] ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ १. रध्रस्य—सा० और मैक०—समृद्ध का। रॉथ—'समृद्ध देवों के प्रसादक, धार्मिक' का। ग्रॉस०—थके हुये का। आफ्रेख्ट—ईमानदार का।

पिशेल—कंजूस का (रध्रस्य चोदिता = जो कंजूस को उदारता के लिये प्रेरित करता है)।

२. **ब्रह्मणः**—सा० और मैक०—ब्राह्मण का। दया०—वेद का। म्यूर—इसे पुल्लिंग मानने पर—(क) प्रस्तुत सूक्त के रचयिता अथवा उच्चारण करने वाले ऋषि का (ख) सामाजिक पूजा के सम्पादक पुरोहित का (ग) 'ब्रह्मा' नामक वेदवित् पुरोहित विशेष का। नपुं० मानने पर—सूक्त। मंत्र अथवा स्तोत्र का। इस अर्थ में ब्रह्मणः = √बृहि (= वृद्धि करना) + मनिन् (उणा० ४।१४६), षष्ठी वि०, एक व०।

३. **नाधमानस्य**—√नाध् (= माँगना) + शानच्, षष्ठी वि०, एक व०। सा० और मैक०—याचक का। दया०—सकल ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले का।

४. **कीरेः**—'कीरि' का षष्ठी, एक व०। सा० और मैक०—स्तुति करने वाले का, गायक का। पिशेल—'हृदा, कीरिणा' (= विनम्रहृदय से) ऋ० ५।४।१० के आधार पर इसका 'रध्र' पद से तादात्म्य प्रतीत होता है। पिशेल का यह मत प्रतिष्ठित नहीं हो सका।

५. **युक्तग्राव्णः**—युक्तौ संयुक्तौ ग्रावाणौ प्रस्तरद्वितयौ येन सः, तस्य। सोमलता को पीसने के लिये दो पत्थरों अर्थात् आधुनिक सिल-बट्टे का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का। दया० 'ग्रावा' से 'मेघ' अर्थ स्वीकारते हैं।

६. **अविता**—√अव् (= रक्षा करना) + तृच्, प्रथमा वि०, एक व०। सा०—रक्षक। मैक०—सहायक।

७. **सुशिप्रः**—सा०—सुन्दर हनु (= ठोढ़ी) या शीर्ष (= सिर) वाला। दया०—जिसमें सुन्दर सेवन सम्भव हैं। मैक० और गेल्डनर—सुन्दर ओष्ठों वाला। बहु०।

८. **सुतसोमस्य**—सुतः सोमः येन सः। तस्य। सा० और मैक०—सोम रस का अभिषव करने वाले (अर्थात् निचोड़ने वाले) व्यक्ति का। दया०—सोम आदि अच्छे पदार्थों के उत्पादक व्यक्ति का।

विशेष—डॉ० सुधीरकुमार गुप्त ने इस मंत्र में तात्कालिक समाज के चार वर्गों का उल्लेख उद्भावित किया है। 'रध्र' को हिंसार्थक 'रध्' धातु से व्युत्पन्न मानकर उससे क्षत्रिय का निर्देशक माना है। तप कृशताप्रदायक है, इसलिये यजु० ३०।५ में तप से सम्बद्ध बताये गये शूद्रों को ही यहाँ 'कृशस्य' पद द्वारा निर्देशित माना है। 'ब्रह्मणः' पद से वे स्पष्टतः 'ब्राह्मण' का निर्देश मानते हैं। 'युक्तग्राव्णः' और 'सुतसोमस्य' पदों से सोम-यज्ञ का संकेत मानकर वे उससे यज्ञ करने वाले सामान्य जनों को विश् या वैश मानने का आग्रह करते हैं। इसमें प्रामाणिकता के स्थान पर कल्पना का ही प्राधान्य प्रतीत होता है।

यस्याश्वा॑सः प्र॒दिशि॒ यस्य॒ गावो॒ यस्य॒ ग्रामा॒ यस्य॒ विश्वे॒ रथा॑सः ।
यः सूर्यं॒ य उ॒षसं॑ ज॒जान॒ यो अ॒पां ने॒ता स जना॑स॒ इन्द्रः॑ ॥ ७ ॥

पदपाठ—यस्य॑ । अश्वा॑सः । प्र॒ऽदिशि॑ । यस्य॑ । गावः॑ । यस्य॑ । ग्रामाः॑ । यस्य॑ । विश्वे॑ । रथा॑सः । यः । सूर्य॑म् । यः । उ॒षस॑म् । ज॒जान॑ । यः । अ॒पाम् । ने॒ता । सः । ज॒ना॒सः॒ । इन्द्रः॑ ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम्—यस्य सर्वान्तर्यामितया वर्तमानस्य प्रदिशि प्रदेशनेऽनुशासनेऽश्वासोऽश्वा वर्तन्ते । यस्यानुशासने गावः । यस्यानुशासने ग्रामाः । ग्रसन्तेऽत्रेति ग्रामाः जनपदाः । यस्याज्ञायां विश्वे सर्वे रथासो रथा वर्तन्ते । यश्च वृत्रं हत्वा सूर्यं जजान जनयामास यश्चोषसम् । तथा मंत्रः—'ज॒जान॒ सूर्यं॑मु॒षसं॑ सु॒दंसाः॑' (ऋ० ३।३२।८) इति । यश्च मेघभेदनद्वारापां नेता प्रेरकः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥

हिन्दी—जिसके [यस्य] शासन में [प्रदिशि] घोड़े [अश्वासः], जिसके (शासन में) [यस्य] गायें [गावः], जिसके (शासन में) [यस्य] गाँव [ग्रामाः] (और) जिसके (शासन में) [यस्य] सभी [विश्वे] रथ [रथासः] (रहा करते हैं); जिसने [यः] सूर्य को [सूर्यम्] (और) जिसने [यः] उषा को [उषसम्] उत्पन्न किया है [जजान]; जो [यः] जलों का [अपाम्] प्रेरक (है) [नेता], हे पुरुषों ! [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः] ॥ ७ ॥

टिप्पणियाँ—१. **अश्वासः आदि**—ध्यातव्य है कि अश्व से 'स्फूर्त्ति', गाय से 'सौम्यता', ग्राम से 'संगठन', रथ से 'गति', सूर्य से 'प्रकाश', उषस् से 'जागरण' और अपस् से 'व्याप्ति'—ये सभी गुण उनके नियन्ता इन्द्र में आरोपित किये जा सकते हैं । दया०—ने 'गावः' से 'किरण', 'अश्वासः' से 'वेग आदि गुण' और 'रथासः' से 'रमण के साधन' अर्थ ग्रहण किये हैं ।

यं क्रन्द॑सी संय॒ती वि॒ह्वये॑ते॒ परेऽव॑र उ॒भया॑ अ॒मित्राः॑ ।
स॒मा॒नं चि॒द्रथ॑मातस्थि॒वांसा॒ नाना॑ हवेते॒ स जना॑स॒ इन्द्रः॑ ॥ ८ ॥

पदपाठ—यम् । क्रन्द॑सी॒ इति॑ । सं॒य॒ती इति॑ स॒म्ऽय॒ती । वि॒ह्वये॑ते॒ इति॑ वि॒ऽह्वये॑ते । परे॑ । अव॑रे । उ॒भयाः॑ । अ॒मित्राः॑ । स॒मा॒नम् । चि॒त् । रथ॑म् । आ॒त॒स्थि॒ऽवांसा॑ । नाना॑ । ह॒वे॒ते॒ इति॑ । सः । ज॒ना॒सः॒ । इन्द्रः॑ ॥ ८ ॥

सायणभाष्यम्—यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वाणे—मानुषी दैवी च द्वे सेने वा संयती परस्परं सङ्गच्छन्त्यौ यमिन्द्रं विह्वयेते स्वरक्षार्थं विविधमाह्वयतः। परे उत्कृष्टा अवरेऽधमाश्च। उभया उभयविधा अमित्राः शत्रवो यमाह्वयन्ति। समानमिन्द्ररथसदृशं रथमातस्थिवांसा आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्रं नाना पृथक् पृथक् हवेते आह्वयेते। यद्वा। समानमेकरथमारूढाविन्द्राग्नी हवेते यज्ञार्थं यजमानैः पृथगाहूयेते। तयोरन्यतरः स इन्द्रो नाहमिति ॥ ८ ॥

हिन्दी—युद्ध करती हुई [संयती] (और एक दूसरे को) ललकारती हुई [क्रन्दसी] (दो सेनायें) जिसे [यम्] (अपनी सहायता हेतु) अलग-अलग बुलाती हैं [वि-ह्वयेते] सबल और निर्बल [परे अवरे] दोनों ही प्रकार के [उभयाः] शत्रु [अमित्राः] (जिसे अलग-अलग बुलाते हैं) (तथा) एक-जैसे [समानम्] ही [चित्] रथ पर [रथम्] आरूढ [आतस्थिवांसा] (दो रथी) (जिसे) अलग-अलग बुलाते हैं [नाना हवेते], हे पुरुषों ! [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः] ॥८॥

टिप्पणियाँ—१. **क्रन्दसी**—सा०—(क) द्यावापृथिवी (ख) मानुषी और दैवी दो सेनायें। मै०—दो (मानवी) सेनायें। दया०—रोने का शब्द करने वाले आकाश और पृथ्वीलोक।

२. **संयती**—सा०—एक दूसरे की ओर बढ़ने वाली। मैक०—पास आती हुई। दया०—संयम से चलने वाले (आकाश और पृथ्वी लोक)।

३. **परेऽवरे**—सा०उत्कृष्ट और अधम। मै०—दूरस्थ और समीपस्थ। पीट०—इस पक्ष के और उस पक्ष के। दया०—प्रकृष्ट (= भूत और भावी) और अर्वाचीन।

४. **समानं चिद्रथमातस्थिवांसा**—सा०—(क) इन्द्र-सदृश रथपर आरूढ (दो रथी) (ख) एक ही रथ पर आरूढ़ (इन्द्र और अग्नि)। प्रथम अर्थ में 'नाना हवेते' = अलग-अलग बुलाते हैं, दूसरे, अर्थ में 'नाना हवेते' = (यजमानों द्वारा) अलग-अलग बुलाये जाते हैं। मैक०—एक ही रथ पर आरूढ़ (योद्धा और सारथी)। आ + √स्था + क्वसु प्रत्यय, पुल्लिंग, प्रथमा वि०, द्विव० का वैदिक रूप।

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥९॥

पदपाठ—यस्मात्। न। ऋते। विऽजयन्ते। जनासः। यम्। युध्यमानाः। अवसे। हवन्ते। यः। विश्वस्य। प्रतिऽमानम्। बभूव। यः। अच्युतऽच्युत्। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ ९ ॥

सायणभाष्यम्—यस्माद्दते जनासो जना न विजयन्ते विजयं न प्राप्नुवन्ति। अतो युध्यमाना युद्धं कुर्वाणा जना अवसे स्वरक्षणाय यमिन्द्रं हवन्त आह्वयन्ति। यश्च विश्वस्य सर्वस्य जगतः प्रतिमानं प्रतिनिधिर्बभूव। यश्चाच्युतच्युद् अच्युतानां क्षयरहितानां पर्वतादीनां च्यावयिता स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ ९ ॥

हिन्दी—जिसके विना [यस्माद् ऋते] लोग [जनासः] विजय नहीं प्राप्त कर पाते [न विजयन्ते], युद्ध करते हुये (लोग) [युध्यमानाः] जिसको [यम्] (अपनी) रक्षा के लिये [अवसे] बुलाते हैं [हवन्ते], जो [यः] (सम्पूर्ण) विश्व का [विश्वस्य] प्रतिनिधि (अथवा प्रतिरूप) [प्रतिमानम्] रहा है [बभूव] (तथा) जो [यः] अचल को चल बना देने वाला (अर्थात् स्थिरों को भी गतिवान् बना देने वाला) [अच्युतच्युत्] (है), हे पुरुषों ! [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः] ॥९॥

टिप्पणियाँ—१. न विजयन्ते—युद्ध में शत्रुओं पर अथवा विविध परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर पाना इन्द्र की कृपा पर ही निर्भर रहता है।

२. **अवसे**—सा०—रक्षा के लिए। मैक०—सहायता के लिए।

३. **प्रतिमानम्**—सा० प्रतिनिधि। मैक०—प्रतिरूप। तुल०—'न हि नु अस्य प्रतिमानमस्ति अन्तर्जातेषु उत ये जनित्वाः' (ऋग् ४।१८।४) = जो उत्पन्न हो चुके हैं और जो उत्पन्न होंगे—उनमें से कोई भी उसका प्रतिरूप (अर्थात् उसकी टक्कर का) नहीं है। दया०—परिमाणसाधक अर्थात् सबकी सीमा, विस्तार आदि का निर्धारक। प्रति + √मा (= नापना) + ल्युट (पा० ३।३।११७)।

४. **अच्युतच्युत्**—सा०—क्षय-रहित पर्वत आदि का चालक। मैक०—स्थिर को अस्थिर बनाने वाला (अर्थात् अचल को चल बनाने वाला)। तुल०—'त्वं च्यावयन्नच्युतानि···चरसि।' (ऋग्० ३।३०।४) = तुम अचलों को भी सचल बनाते हुए संचरण करते हो।

यः शश्वतो मह्येनो दधानान् अमन्यमानाञ्छर्वा जघान।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥१०॥

पदपाठ—यः। शश्वतः। महि। एनः। दधानान्। अमन्यमानान्।
शर्वा। जघान। यः। शर्धते न। अनुऽददाति। शृध्याम्।
यः। दस्योः। हन्ता। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ १० ॥

सायणभाष्यम्—यो महि महदेनः पापं दधानान् शश्वतो बहूनमन्यमानान् आत्मानमजानत इन्द्रमपूजयतो वा जनान् शर्वा। शृणाति शत्रूननेनेति

शरुर्वज्रः। तेनायुधेन जघान। हन्तेर्लिटि रूपम्। यश्च शर्धत उत्साहं कुर्वतेऽनात्मज्ञाय जनाय शृध्यामुत्साहनीयं कर्म नानुददाति न प्रयच्छति। अनुपूर्वात् 'डुदाञ् दाने' जौहोत्यादिकः। 'अभ्यस्तानामादिः' (पा० ६।१।१८९) इति 'तिङि चोदात्तवति' (पा० ८।१।७१) इति गतेर्निघातः। यश्च दस्योरुपक्षपयितुः शत्रोर्हन्ता घातकः स इन्द्र इत्यादि पूर्ववत्॥ १०॥

हिन्दी—जो [यः] बड़े-बड़े पापों को [महि एनः] धारण करने वाले [दधानान्] (अपने) बहुत से [शश्वतः] अपूजकों को [अमन्यमानान्] वज्र से [शर्वा] मार दिया करता है [जघान], जो [यः] (अपने अपूजक) उत्साही व्यक्ति को [शर्धते] उत्साह-योग कर्म-फल [शृध्याम्] नहीं प्रदान करता [न अनुददाति] (तथा) जो [यः] दस्यु-जनों का [दस्योः] संहारक (है) [हन्ता], हे पुरुषों ! [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः] ॥ १० ॥

टिप्पणियाँ—१. **शश्वतः**—सा० और मैक०—बहुतों को। 'अमन्यमानान्' का विशे०। दया०—सनातन स्वरूप वाले पदार्थों को धारण करने वाला। इन्द्रवाची 'यः' का विशे०। सा० आदि के मत में एक दोष यह है कि उनके स्वीकृत अर्थ में यह ध्वनि निकलती है कि इन्द्र 'बहुतों को मार डालता है, सबको नहीं, कुछ पापी बच भी जाते होंगे'।

२. **महि एनः**—'ईयते प्राप्यते दुःखमनेनेत्येनः' (दे० उ० ४।१९८)। महि = महत्' नपुं, द्वितीया वि०, एक व० का वैदिक रूप। = बड़े पाप को।

३. **दधानान्**—√धा (= धारण करना) + शानच्, पुल्लिंग, द्वितीया वि०। बहु व०। ध्यातव्य है कि 'आन्' का 'आँ' केवल एक ही समान पाद में हुआ करता है। यहाँ दो पादों की सन्धि प्राप्त होने से वैसा नहीं हुआ।

४. **अमन्यमानान्**—सा०—(क) अपने आप को न जानने वालों को (अर्थात् अपने सीमित सामर्थ्य से अधिक अपने को जानने वाले गर्व—विमूढ़ लोगों को) (ख) इन्द्र की पूजा न करने वालों को। मैक०—यह विचार न करनेवालों को, कि इन्द्र उन्हें मार देगा (अर्थात् इन्द्र के बल-विक्रम की उपेक्षा करने वालों को)। दया०—अज्ञानी को।

५. **शर्वा**—शृणाति मारयति अनेन इति शरुः वज्रः, तेन ('शरुणा' का वैदिक रूप)।

६. **जघान**—√हन् (= मार डालना) + लिट्, अन्य पु०, एक व०। आशय यह है कि वह 'पहले भी मार डालता था और अब भी मार डालता है)।

७. शर्धते—सा०—उत्साही व्यक्ति को (जो कि इन्द्र का अपूजक हो)। दया०—(इन्द्र के प्रति) कुत्सायुक्त शब्दोच्चारण करने वाले को। मैक०—घमण्डी व्यक्ति को। √शृध् (=खिल्ली उड़ाना, नियम तोड़ना आदि)+क्त, चतुर्थी वि०, एक व०।

८. न अनुददाति—सा०—प्रदान नहीं करता। मैक० और पीट०—क्षमा नहीं करता। अनु√दा+लट्, अन्य पु०, एक व०।

९. दस्योः—सा०—उपक्षपयिता अर्थात् शत्रु का। दया०—दूसरों के पदार्थ हरने वाले दुष्ट का। मै०—शम्बर आदि राक्षसों के लिये प्रयुक्त होने वाला शब्द, अर्थात् असुर।

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥११॥

पदपाठ—यः। शम्बरम्। पर्वतेषु। क्षियन्तम्। चत्वारिंश्याम्। शरदि। अनुऽअविन्दत। ओजायमानम्। यः। अहिम्। जघान। दानुम्। शयानम्। सः। जनासः। इन्द्रः ॥११॥

सायणभाष्यम्—यः पर्वतेषु क्षियन्तम् इन्द्रभिया बहून् संवत्सरान् प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगुहासु निवसन्तं शम्बरमेतन्नामकं मायाविनमसुरं चत्वारिंश्यां शरदि चत्वारिंशे संवत्सरेऽन्वविन्दतान्विष्यालभत। लब्ध्वा च य ओजायमानम्। 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा० ३।१।११) 'ओजसोऽप्सरसो नित्यम्' (पा० ३।१।११) इति सकारलोपः। बलमाचरन्तमहिमाहन्तारं दानुं दानवं शयानं शम्बरमसुरं जघान हतवान् स इन्द्रो नाहमिति ॥ ११ ॥

हिन्दी—जिसने [यः] पर्वतों में [पर्वतेषु] (छिप कर) रहते हुए [क्षियन्तम्] शम्बर को [शम्बरम्] शरद् ऋतु में [शरदि] चालीसवीं तिथि को [चत्वारिंश्याम्] खोज कर पा लिया [अनुअविन्दत्] (तथा) जिसने [यः] बल का प्रदर्शन करने वाले [ओजायमानम्] लेटे हुए [शयानम्] दानु-पुत्र [दानुम्] अहि को [अहिम्] मार डाला [जघान], हे पुरुषों! [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः] ॥ ११ ॥

टिप्पणियाँ—१. **शम्बरम्**—सा०—इस नाम का मायावी असुर। दया०-मेघ। निघं० १।१०।१४ में भी इसे मेघ वाची माना गया है। (यह बात दूसरी है कि निघं० १।१२।८८ और २।९।२८ में इसे क्रमशः जल और बल का वाचक भी माना गया है)। मैक०—इन्द्र का एक राक्षस-

शत्रु, जो वृत्र, बल और शुष्ण को छोड़ कर सर्वाधिक चर्चित है, जो अनेक दुर्गों (ऋ० १।१३०।७ के अनुसार ९०, ऋ० २।१९।६ के अनुसार ९९ और ऋ० २।१४।६ के अनुसार १००) का स्वामी है। रॉथ—राजा दिवोदास का हिंसक शत्रु, जिसे उसने इन्द्र की सहायता से मारा था (दे० ऋ० १।११२। १४ और ९।६१।२)। हिलेब्राण्ट—दिवोदास का शत्रु-नरेश, जो कालान्तर में असुरवाचक बन गया। कुछ लोग इसे पर्वतवासी एक आदिम जाति का राजा मानते हैं, जो आर्यों से शत्रुवद् भाव रखता था।

शम्बर वस्तुतः कोई प्राणी-विशेष था या नहीं, यह कहना कठिन है। हमारे मत में शम्बर मेघ-वाची ही है। दे०—द्युलोक के शिखर को कम्पित करके इन्द्र द्वारा शम्बर का वध (ऋ० १।५४।४); वैश्वानर द्वारा अग्नि-जलों (= काष्ठाः) को हिला कर शम्बर-बध (ऋ० १।५९।६); सोम द्वारा शम्बर तुर्वश यदु का प्रकाश-दान (= दिवोदासाय) के लिये वशीभूत किया जाना (ऋ० ९।६१।२)। इस विषय में डॉ० फतेहसिंह का वक्तव्य भी दर्शनीय है—'परन्तु' सोम का वास्तविक स्थान तो स्वयं आनन्दमय ब्रह्म ही है। वहीं सोम सुरक्षित है। उसके चारों ओर निष्क्रिय वाक् कद्रू का पहरा रहता है। वही वृत्र है—जो इसको घेरे हुये है—सोम के दोनों तत्त्व (प्रकाश तथा जल) इसी से आवृत रहते हैं। इसी को मार कर इन्द्र प्रकाश तथा जल की मुक्ति करता है। यह शान्ति के साथ आवरण करने वाला है, अतः इसका नाम शम्बर है; सोम (= आपः) को चुरा लेने से यह सभी कुछ को शुष्क कर देता है, इस लिये यह शुष्ण कहलाता है।.........।'

(दे० वैदिक दर्शन, पृ० १५५)

२. **चत्वारिंश्यां शरदि**—सा०—चालीसवें संवत्सर में। मैक०—चालीसवीं शरद् ऋतु में। उक्त दोनों मतों में 'चालीसवें वर्ष'। ऐसा अर्थ निकलता है। तिलक—शरद् ऋतु की चालीसवीं तिथि को (दे०—'आर्कटिक होम इन द वेदाज़')।

'शम्बर' के समान 'चत्वारिंश्यां शरदि' का अर्थ निकालना भी एक समस्या है। यह अवश्य है कि जैसा अर्थ 'शम्बर' का होगा, तदनुकूल ही इसका अर्थ भी निकालना पड़ेगा।

हमारे मत में तिलक महोदय का मन्तव्य ही अधिक समीचीन है, क्योंकि शरद् ऋतु के प्रारम्भ होने से लगभग ४० दिन बीतते-बीतते आकाश से मेघों का सफाया हो जाता है। शरद् कालिक मेघों का अन्तिम दर्शन पर्वत-शिखरों पर हुआ करता है। वहाँ सूर्य के प्रतिरूप इन्द्र द्वारा उक्त मेघ का विनाश किया जाता है। वर्षा-काल में जल-दान के उपरान्त अब शरद् ऋतु में

मेघ का पर्वतादि का आश्रय लेकर सुख-शयन सर्वथा सम्भाव्य है (देखिये 'दानुं शयानम्')। सूर्य रूपी इन्द्र के घर्षण-घर्षण से उस मेघ के शरीर परिमाण का फैलना ही उसका 'बल-प्रदर्शन' है (देखिये-'ओजायमानम्')। शरद् में अपने जल-वर्षण रूपी कर्म से विरत हो जाने के कारण अकर्मण्य होकर पड़े हुये मेघ को ही यहाँ 'अहि' कहा गया है। देखिये—डॉ० फतेहसिंह : 'वैदिक एटिमालाजी' अहि = न√हि (= जाना)।

३. अहिम्—सा० हिंसक। मैक०—सर्प। मंत्र—३ में एतद्विषयक टिप्पणी भी देखें।

४. दानुम्—सा०—दानव को (अर्थात् 'शम्बर' को)। मैक०—'दानु' वृत्र की माँ का नाम है। दे०—'दानुः शये सहवत्सा न धेनुः' (ऋ० १।३२। २९) = दानु एक गाय के समान अपने 'वत्स' (= बछड़ा और बेटा) के साथ लेटी हुई थी। यहाँ 'दानुम्' पद साधारणतया 'दानव' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हमारे मत में 'ददाति इति दानुः' इस व्युत्पत्ति से जल-वर्षण के कारण मेघ 'दानु' है।

५. शयानम्—√शी (= सोना) + शानच् = लेटा हुआ = आराम करता हुआ = गति हीन। परोपकार करने में समर्थ व्यक्ति यदि अकर्मण्य होकर बैठ रहे, तो जग का बड़ा अकल्याण हो सकता है। इसी दृष्टि से वर्षा करने वाले मेघ का, अकर्मण्य हो जाने पर, सूर्य रूपी इन्द्र द्वारा वध यह इंगित करता है कि अपने कर्तव्य से विमुख प्रत्येक प्राणी इन्द्र का वध्य बन जायगा। इस प्रकार इन्द्र लोक-कल्याण की भावना का प्रेरक है।

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान् अवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर् द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः॥ १२॥

पदपाठ—यः। सप्तऽरश्मिः। वृषभः। तुविष्मान्। अवऽअसृजत्। सर्तवे। सप्त। सिन्धून्। यः। रौहिणम्। अस्फुरत्। वज्रऽबाहुः। द्याम्। आऽरोहन्तम्। सः। जनासः। इन्द्रः॥ १२॥

सायणभाष्यम्—यः सप्तरश्मिः सप्तसङ्ख्याकाः पर्जन्या रश्मयो यस्य। ते च रश्मयो—'वराहवः स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः श्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते ये चेमेऽशिमिविद्विषः पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति वृष्टिभिः' (तै० आ० १।९।४।५) इति तैत्तिरीयारण्यके ह्याम्नाताः। वृषभो वर्षकस्तुविष्मान् वृद्धिमान् बलवान् वा सप्त सर्पणस्वभावान् सिन्धूनपः सर्तवे सरणायावासृजद्

अवसृष्टवान्। यद्वा। गङ्गाद्याः सप्त मुख्या नदीरसृजत्। यश्च वज्रबाहुः सन् द्यां दिवमारोहन्तं रौहिणमसुरमस्फुरज्जघान। "स्फुर स्फुरणे" तुदादिः ॥ १२ ॥

हिन्दी—सात रश्मियों वाले [सप्तरश्मिः] जिस [यः] शक्तिशाली [तुविस्मान्] वृषभ ने [वृषभः] सप्त-संख्यक [सप्त] जल-धाराओं को [सिन्धून्] बहने के लिये [सर्तवे] मुक्त कर दिया [अवासृजत्] (तथा) वज्र धारण करके (अथवा वज्र के समान पुष्ट भुजाओं वाले) [वज्रबाहुः] जिसने [यः] द्यु-लोक में [द्याम्] चढ़ते हुए [आरोहन्तम्] रौहिण को [रौहिणम्] मार डाला [अस्फुरत्], हे पुरुषों! [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः] ॥ १२ ॥

टिप्पणियाँ—१. **सप्तरश्मिः**—सा०—सप्तसंख्यक पर्जन्य रूपी रश्मियों (=लगामों) वाला। मैक०—सात नथों वाला (सम्भवतः इसका अर्थ 'दुर्धर्ष' अथवा 'अप्रतिहत गति वाला' है)। पीट०—सात रज्जुओं से युक्त (जो उसका नेतृत्व करती हैं और जिनसे उसके विशाल बल-विक्रम का अनुमान लगाया जा सकता है)। दया०—सात प्रकार की किरणों वाला। ध्यातव्य है कि दया० इन्द्र को सूर्य का ही प्रतिरूप मानते हैं।

२. **वृषभः**—सा०—वर्षक (सम्भवतः कामनाओं की वृष्टि अर्थात् पूर्ति करने वाला)। मैक०—वृषभ (यह पद देवताओं के लिए और विशेषतः इन्द्र के लिये बहुधा प्रयुक्त होता है और यह अत्यधिक शक्ति, वीर्य और प्रजननशक्ति का द्योतक है।) दया०—मेघ की शक्ति को रोकने वाला। उणा० ३।१२३ √वृष् (=सींचना) + अभच्।

३. **तुविष्मान्**—सा०—वृद्धिमान् अथवा बलवान्। मैक०—बलवान्। दया०—अत्यधिक शक्ति से खींचने के सामर्थ्य से युक्त। (वही सूर्य लोक)। तुविप्। मतुप्।

४. **सर्तवे**—√सृ (=सरकना, बहना, गति करना) + तवेन् (=तुमुन् के अर्थ में प्रयुक्त वैदिक प्रत्यय)।

५. **सप्तसिन्धून्**—सा०—(क) सर्पण शील जलों को। (ख) गङ्गा आदि सात नदियों को। मैक०—सात जल-धाराओं को। ऊपर ऋ० २।१२।३ में प्रदत्त एतद्विषयक टिप्पणी भी देखिये।

६. **रौहिणम्**—सा०—असुर विशेष। यास्क—मेघ (दे०—निघं० १।१०।१५) हिल्येब्राण्ड—यह रोहिणी नक्षत्र का ही एक नाम है। मैक०—एक राक्षस का नाम, जिसका उल्लेख ऋग्० में केवल एक बार और हुआ है।

आगे चल कर मैक० इसे 'रोहिणी का पुत्र' स्वीकारते हैं (दे०—वै० री०, अन्त में दी गई 'शब्द सूची', पृ० २४६)। दया०—रोहणशील मेघ। हिले-ब्राण्ड का अर्थ समुचित युक्ति के अभाव में अस्वीकार्य लगता है। यास्क-सम्मत दया० का मत हमें मान्य है। पं० चट्टो० इसे रोहिण-पुत्र 'राहु' का आदि रूप मानने का सुझाव देते हैं।

७. **अस्फुरत्**—√स्फुर् + लङ्, अन्य पु०, एक व०। सा०—मार डाला। मैक०—लात मार दी अथवा तिरस्कृत कर दिया। दया०—स्फूर्ति दिया करता है। (इसका सम्बन्ध 'रौहिण' मेघ से है)।

द्यावा॑ चिदस्मै पृथि॒वी न॑मेते॒ शुष्मा॑च्चिदस्य॒ पर्व॑ता भयन्ते।
यः सोम॒पा नि॑चि॒तो वज्र॑बाहु॒र् यो वज्र॑हस्तः॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥१३॥

पदपाठ—**द्यावा॑। चि॒त्। अ॒स्मै॒। पृ॒थि॒वी इति॑। न॒मे॒ते इति॑। शुष्मा॑त्। चि॒त्। अ॒स्य॒। पर्व॑ताः। भ॒यन्ते॒। यः। सोम॒ऽपाः। नि॒ऽचि॒तः। वज्र॑ऽबाहुः। यः। वज्र॑ऽहस्तः। सः। ज॒ना॒सः॒। इन्द्रः॑ ॥ १३ ॥**

सायणभाष्यम्—अस्मै इन्द्राय द्यावा पृथिवी। इतरेतरापेक्षया द्विवचनं 'प्र मित्रयोर्वरुणयोः' (ऋ० ७।६६।१) इतिवत्। नमेते स्वयमेव प्रह्वीभवतः। 'णमु प्रह्वत्वे'। कर्मकर्तरि 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' (पा० ३।१।८९) इति यकः प्रतिषेधः। चिद् अपि च अस्येन्द्रस्य शुष्माद् बलात पर्वता भयन्ते बिभ्यति। यः सोमपाः सोमस्य पाता निचितः सर्वैः। यद्वा। अन्येभ्योऽपि देवेभ्यो दृढाङ्गः। वज्रबाहुर्वज्रसदृशबाहुः। यश्च वज्रहस्तो वज्रयुक्तः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ १३ ॥

हिन्दी—इस (इन्द्र) के लिये [अस्मै] द्युलोक [द्यावा] (और) पृथिवी लोक [पृथिवी] भी [चित्) प्रणत होते हैं [नमेते] (तथा) इस (इन्द्र) के [अस्य] बल से [शुष्मात्] पर्वत [पर्वताः] भी [चित्] भयभीत रहते हैं [भयन्ते]; वज्र के समान (पुष्ट) भुजाओं वाला [वज्र-बाहुः] जो [यः] सोम का रक्षक (अथवा पान करने वाला) [सोमपा] निश्चित किया गया है (अर्थात् प्रसिद्ध है) [निचितः] (तथा) जो [यः] हाथ में वज्र धारण करने वाला है [वज्रहस्तः], हे पुरुषों ! [पुरुषाः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः] ॥ १३ ॥

टिप्पणियाँ—१. **द्यावा···पृथिवी**—सा०—यहाँ 'मित्रयोर्वरुणयोः' के समान दोनों ही पद सापेक्ष और द्विवचनान्त हैं। मैक०—यहाँ द्वन्द्व समास

प्राप्त है; वेद में द्वन्द्व समास वाले दोनों पदों के मध्य में अन्य पदों के आ जाने से वे पृथक्-पृथक् भी स्थित रह सकते हैं; इसी लिये उनमें दो उदात्त स्वर प्राप्त हैं।

२. **शुष्मात्**—सा० और दया०—बल से। मैक०—प्रचण्डता से। पीट०—श्वास से। मंत्र १ में इस पर दी गई टिप्पणी भी देखिये।

३. **सोमपा**—सा० और मैक०—सोम-रस-पायी। दया०—पदार्थों के रस को सोखने वाला। दे०—मंत्र ६ में 'सुतसोमस्य' पर टिप्पणी।

४. **निचितः**—सा०—(क) निश्चित किया गया है (ख) (अन्य देवताओं की अपेक्षा) दृढ़ अंगों वाला। मैक०—माना गया है। दया०—अनेक पदार्थों से घनीभूत बनाया गया। वेंकट माधव-दृढ़ शरीर वाला।

५. **वज्रबाहुः वज्रहस्तः**—मैक० ने दोनों को समानार्थक माना है। सा०—वज्रसमान भुजाओं वाला और वज्रयुक्त हाथ वाला।

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥१४॥

पदपाठ—यः। सुन्वन्तम्। अवति। यः। पचन्तम्। यः। शंसन्तम्। यः। शशमानम्। ऊती। यस्य। ब्रह्म। वर्धनम्। यस्य। सोमः। यस्य। इदम्। राधः। सः। जनासः। इन्द्रः॥ १४॥

सायणभाष्यम्—यः सुन्वन्तं सोमाभिषवं कुर्वन्तं यजमानमवति रक्षति। यश्च पुरोडाशादीनि हवींषि पचन्तं यश्च ऊती ऊतये। 'सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) इति चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः। स्वरक्षायै शस्त्राणि, शंसन्तं यश्च शशमानमवति स्तोत्रं कुर्वाणं रक्षति। ब्रह्म परिवृढं स्तोत्रं यस्य वर्धनं वृद्धिकरं भवति। तथा यस्य सोमो वृद्धिहेतुर्भवति। यस्य चेदमस्मदीयं राधः पुरोडाशादिलक्षणमन्नं वृद्धिकरं भवति। स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ १४ ॥

हिन्दी—जो [यः] (सोम का) अभिषव करने वाले की [सुन्वन्तम्] रक्षा करता है [अवति], जो [यः] (सोम को अथवा पुरोडाश आदि अन्न को) पकाने वाले की [पचन्तम्] (रक्षा करता है), जो [यः] शस्त्र-पाठ[1]

---

१. 'अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं शस्त्रम्'। = किसी गुणी में विद्यमान गुण का वह कथन 'शस्त्र' कहलाता है, जो गाकर न कहा जाय अर्थात् गद्य का आश्रय लेकर की गई प्रशंसा।

करने वाले (अर्थात् प्रशंसा करने वाले) की [शंसन्तम्] (रक्षा करता है), (तथा) जो [यः] (स्वकीय) रक्षा-हेतु [ऊती] स्तोत्र-पाठ[1] करने वाले (अर्थात् स्तुति करने वाले) की [शशमानम्] (रक्षा करता है); स्तोत्र [ब्रह्म] जिसकी [यस्य] वृद्धि करने वाला है [वर्धनम्], सोम-रस [सोम] जिसकी [यस्य] (वृद्धि करने वाला है) (तथा) यह (अर्थात् हमारे द्वारा समर्पित) [इदम्] सिद्ध-अन्न [राधः] जिसकी [यस्य] (वृद्धि करने वाला है), हे पुरुषों ! [जनासः] वह (ही) [सः] इन्द्र (है) [इन्द्रः] ॥ १४ ॥

टिप्पणियाँ—१. **सुन्वन्तम्**—सा०—सोम का अभिषव (= निचोड़ना) करते हुए। मैक०—वही। दया०—सबके लिये सुख-सृष्टि कारक।

२. **पचन्तम्**—सा०—पुरोडाश आदि अन्न पकाने वाला। मै०—हव्य भूत रोटियों को पकाने वाला। पीट०—(सुरा-निर्माणार्थ) सोम रस को पकाने वाला। सा० और मैक० के अर्थ लगभग समान हैं।

३. **शंसन्तम्**—सा०—शस्त्र-पाठ करने वाला। दे०—इस मन्त्र के ही अन्तर्गत पाद-टिप्पणी। मैक०—प्रशंसा करने वाला। पीट०—गायन करने वाला अथवा स्तुति करने वाला। अर्थ सब का लगभग एक ही है।

४. **शशमानम्**—सा०—स्तुति करने वाला। मैक०—यज्ञ-निष्पादन करने वाला। निघं० ३।१४ पूजा करने वाला। निरुक्त ६।८ प्रशंसा करने वाला।

५. **ऊती**—सा०—(अपनी) रक्षा के लिये। चतुर्थी। मैक०—(अपने) रक्षा-कर्म से। तृतीया। 'अवति' क्रिया-पद से सम्बद्ध। तुल०—'अपसा अवन्ति' = सहायता देकर मदद करना (ऋ० १।१८५।४)।

६. **सोमः**—सा०, मैक० आदि—सोम-रस। दया०—चन्द्रमा और ओषधियों का समुदाय।

७. राधः—सा०—पुरोडाश आदि अन्न। मैक०—भेंट स्वरूप दी गई आहुति। दया०—परोपकारार्थ दिया गया धन।

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः ।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमावदेम ॥ १५ ॥

---

१. 'प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधानं स्तोत्रम्' । = किसी गुणी में विद्यमान गुण का वह कथन 'स्तोत्र' कहलाता है, जो भली भांति गाकर कहा जाय, अर्थात् सस्वर की गई स्तुति।

पदपाठ — यः । सुन्वते । पचते । दुध्रः । आ । चित् । वाजम् । दर्दर्षि । सः । किल । असि । सत्यः । वयम् । ते । इन्द्र । विश्वह । प्रियासः । सुऽवीरासः । विदथम् । आ । वदेम ॥ १५ ॥

सायणभाष्यम्—इदानीमृषिः साक्षात्कृतमिन्द्रं प्रति ब्रूते। हे इन्द्र यो दुध्रो दुर्धरः सन् सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते पुरोडाशादिहवींषि पचते यजमानाय वाजमन्नं बलं वा आ दर्दर्षि भृशं प्रापयसि स तादृशस्त्वं सत्यो यथार्थभूतोऽसि। न पुनर्नास्तीति बुद्धियोग्योऽसि। किलेति प्रसिद्धौ। ते तव प्रियासः सुवीरासः कल्याणपुत्रपौत्राः सन्तो वयं विश्वह सर्वेष्वहःसु विदथं स्तोत्रं आ वदेम ब्रूयाम ॥ १५ ॥

हिन्दी—सोम का अभिषव करने वाले को [सुन्वते] (और उसे अथवा पुरोडाश आदि अन्न को) पकाने वाले को [पचते] जो तुम [यः] (परम) उग्र होते हुए भी [दुध्रः चित्] अन्नादि [वाजम्] प्रचुर मात्रा में प्रदान करते हो [आ दर्दर्षि], वह तुम [सः] निश्चय ही [किल] यथार्थ-भूत [सत्यः] हो [असि] हे इन्द्र ! [इन्द्र] सुन्दर पुत्र-पौत्रादि से युक्त [सुवीरासः] (और तुम्हारे) प्रियपात्र बने हुए [प्रियासः] हम लोग [वयम्] सदा [विश्वह] तुम्हारी [ते] स्तुति [विदथम्] किया करें [आ वदेम] ॥ १५ ॥

टिप्पणियाँ—१. **दुध्रः**—सा०—दुर्धर। दया०—कठिनता से हृदयंगम किये जाने योग्य। मैक०—परम उग्र।

२. **वाजम्**—सा०—अन्न अथवा बल। दया०—सत्र के वेग को। मैक०—लूट का सामान।

३. **आ दर्दर्षि**—आ + √दृ + यङ् + लट्, मध्यम पु०, एक व०। सा०—प्रचुर मात्रा में प्राप्त कराते हो। मैक०—बलपूर्वक प्रदान करते हो। दया०—सब ओर से पूर्णतः नष्ट करते हो। हमें सायणीय अर्थ मान्य है।

मैक० 'आचित्' को 'दुध्रः' के साथ जोड़ने का आग्रह करते हैं। सा० ने अपने भाष्य में 'चित्' को सर्वथा छोड़ दिया है। हम 'चित्' को 'दुध्रः' के साथ और 'आ' को 'दर्दर्षि' के साथ जोड़ने के पक्ष में हैं।

४. **विदथम्**—सा०—स्तोत्र। मैक०—देव-पूजा।

पुरुषसूक्तम्

(ऋग्० १०।९०)

[इसके ऋषि 'नारायण', देवता 'पुरुष' और छन्द 'अनुष्टुप्' (प्रथम १५ मंत्र) तथा 'त्रिष्टुप्' (अन्तिम मंत्र) हैं ।]

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

पदपाठ—सहस्रऽशीर्षा । पुरुषः । सहस्रऽअक्षः । सहस्रऽपात् । सः । भूमिम् । विश्वतः । वृत्वा । अति । अतिष्ठत् । दशऽअङ्गुलम् ॥ १ ॥

सायणभाष्यम्—'सहस्रशीर्षा' इति षोडशर्चं 'षष्ठं' सूक्तम् । नारायणो नामर्षिरन्त्या त्रिष्टुप् शिष्टा अनुष्टुभः । अव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो यः पुरुषः 'पुरुषान्न परं किंचित्' (क० उ० १।३।११) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता । तथा चानुक्रान्तं—'सहस्रशीर्षा षोळश नारायणः पौरुषमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्तं तु' इति । गतो विनियोगः ।

सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च । सः पुरुषः भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतः वृत्वा परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितम् देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः । दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्याव-स्थित इत्यर्थः ॥ १ ॥

हिन्दी—पुरुष [पुरुषः] हजारों सिरों वाला [सहस्रशीर्षा], हजारों आँखों वाला [सहस्राक्षः] (और) हजारों पैरों वाला [सहस्रपात्] (है), वह [सः] ब्रह्माण्ड को [भूमिम्] सब ओर से [विश्वतः] आवृत करके [वृत्वा] (भी) दश अंगुलि-परिमाण तक [दशाङ्गुलम्] अवस्थित है [अत्यतिष्ठत्] ॥ १ ॥

टिप्पणियाँ—१. **सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपात्**—यहाँ 'सहस्र' शब्द संख्यावाची न होकर सा० के अनुसार आनन्त्य, उव्वट के अनुसार

अनेकत्व और महो० के अनुसार बहुत्व का वाची है। सभी प्राणियों के, विराट् पुरुष के ही अंगभूत होने से, उनके विविध अङ्गों को भी 'पुरुष' का कहा जा सकता है। मैक० और पीट० भी इससे सहमत हैं।

यहाँ पर शीर्ष, अक्षि और पाद से क्रमशः ब्रह्म की इन तीन शक्तियों की ओर संकेत किया गया है—

१. ज्ञान, अनुभव २. दर्शन, निरीक्षण ३. गति, धारण, रक्षण, प्रापण।

२. **पुरुषः**—सा०--सभी प्राणियों का समष्टि भूत ब्रह्माण्ड देहधारी विराट नामक पुरुष। उव्वट--नारायण नाम वाला पुरुष। महो०--अव्यक्त, महत् आदि से विलक्षण चेतन पुरुष। दया०--सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक परमेश्वर।

दया० के अनुसार—'पुरुष उसे कहते हैं जो इस सम्पूर्ण जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है। 'पुर' कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को। उसमें जो सर्वत्र व्याप्त है और जो जीव के भीतर भी व्यापक और अन्तर्यामी है, उसे पुरुष कहते हैं।' (दे०—ऋ० भा० भू०, पृ० १५१)।

'पुरुष' पद की सर्वाधिक मान्य व्युत्पत्ति—'पुरि शेते इति पुरुषः' = ब्रह्माण्ड अथवा शरीर में शयन करने वाला अर्थात् विद्यमान।

३. **भूमिम्**—भू + मिः (उणा० ४।४५)। भवति इति भूमिः। सा०—ब्रह्माण्ड गोलक को। उव्वट—भुवनकोश की भूमि को। महो०—ब्रह्माण्डगत लोकों की भूमि को अथवा पंचमहाभूतों को। दया०—पृथिवी से प्रकृति पर्यन्त सभी जगत् को। मैक० और पीट०—पृथ्वी को।

४. **दशाङ्गुलम्**—सा०—दश-अंगुलि-परिमित देश को। किन्तु इसे उपलक्षण मात्र कर वे 'ब्रह्माण्ड के बाहर भी सबको सब ओर से व्याप्त करके स्थित है' ऐसा अर्थ करते हैं। दया०—(क) पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म भूतों रूपी अंगों वाले जगत् को। (ख) पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव—इन सबको। (ग) दश अंगुल के परिमाण वाले हृदय प्रदेश को। मैक०—यह एक कहने का ढङ्ग है कि वह पृथ्वी के आकार से भी बड़े आकार का है।

विशेष—आर्नाल्ड महोदय ने इस सूक्त में प्रयुक्त छन्दों की लय को देख कर इसे अत्यन्त नवीन सूक्त ठहराया है। इसकी अर्वाचीनता के लिये देखिए—म्यूरः ओ० टे०, भाग १, पृ० १५।

पुरु॑ष ए॒वेदं सर्वं॒ यद्भू॒तं यच्च॒ भव्य॑म् ।
उ॒ता॒मृ॑त॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑ना॒ति॒रोह॑ति ॥ २ ॥

पदपाठ—पुरु॑षः । ए॒व । इ॒दम् । सर्व॑म् । यत् । भू॒तम् । यत् । च॒ । भव्य॑म् । उ॒त । अ॒मृ॒त॒ऽत्वस्य॑ । ईशा॑नः । यत् । अन्ने॑न । अ॒ति॒ऽरोह॑ति ॥ २ ॥

सायणभाष्यम्—यत् इदं वर्तमानं जगत् तत् सर्वं पुरुष एव । यत् च भूतम् अतीतं जगत् यच्च भव्यं भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव । यथास्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेवाः[1] सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवाः तथैवातीतागामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्रायः । उत अपि च अमृतत्वस्य देवत्वस्य अयम् ईशानः स्वामी । यत् यस्मात् कारणात् अन्नेन प्राणिनां भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वकीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति तस्मात् प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेदं तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः[2] ॥ २ ॥

हिन्दी—यह सब कुछ (अर्थात् वर्तमान-जगत्) [इदं सर्वम्], जो कुछ हो चुका (अर्थात् भूतकालिक जगत्) [यद् भूतम्] तथा जो कुछ होगा (अर्थात् भविष्यज्जगत्) [यत् च भव्यम्] (वह सब) पुरुष ही (है) [पुरुषः एव]; तथा [उत] (वह) अमरता का भी (अर्थात् अमरों का) [अमृतत्वस्य] स्वामी (है) [ईशानः], जो कि [यत्] अन्न से (अर्थात् यज्ञ में आहुतिरूपेण प्रदत्त अन्न से) [अन्नेन] वृद्धि को प्राप्त होती है [अतिरोहति] ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१. **इदं सर्वम्**—सा० और मैक०—यह सब कुछ अर्थात् वर्तमान जगत् । डॉ० सुधीर कुमार गुप्त 'इदं सर्वम्' को वाक्य का प्रधान अंग मान कर, 'यद्भूतं' को उसका पूरक मानते हैं । 'यद्भूतं' का अर्थ उनके विचार से 'जो कुछ अस्तित्व में आ चुका' है, भले ही वह अतीत जगत् हो, या वर्तमान जगत् । दया०—'इदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' को कर्म-पद तथा 'पुरुषः' को कर्ता-पद मान कर, उसके लिये 'रचयति' क्रिया-पद का अपने मन से अध्याहार कर लेते हैं ।

२. **च**—मही० और दया० इस 'च' से ही 'वर्तमान-जगत्' की ओर संकेत मानते हैं ।

---

१. पाठा०—'प्राणिदेहाः'

२. पाठा०—'वस्तुतत्त्वम्'

३. अमृतत्वस्येशान :—अमृतत्वस्य + ईशानः । सा०—देवत्व का स्वामी। उव्वट—मोक्ष का स्वामी। मही०—(क) देव का स्वामी (ख) मुक्ति का स्वामी। दया०—(क) अविनाशी मोक्ष-सुख का कारण (ख) मोक्ष का दाता। मैक०—अमरता का (अर्थात् अमरों = देवों का) स्वामी। पीट०—अमरता का शासक।

४. यदन्नेनातिरोहति— = यत् + अन्नेन + अति-रोहति। सा०—क्योंकि (= यत्) वह प्राणियों के भोज्य अन्न से (= अन्नेन) अपनी कारणावस्था को छोड़ कर जगत्-अवस्था को प्राप्त होता है (= अति-रोहति)। प्राणियों के कर्म-फल-भोग के लिये ही उसके द्वारा जगत्-अवस्था स्वीकार की जाती है, इससे स्पष्ट है कि उसका यह जगत् रूप उसका वास्तविक रूप नहीं है। उव्वट०—(पुरुष मोक्ष का स्वामी है) क्योंकि (= यत्) वह अमृत से (= अन्नेन) अतिरोध करता है (= अति-रोहति)। मही०—(क) सायणीय अर्थ का ही अनुमोदन। (ख) जो जीव-समुदाय (= यत्) अन्न से (= अन्नेन) उत्पन्न होता है (= अतिरोहति), (पुरुष उस सबका स्वामी है)। इस अर्थ के समर्थन में मही० का कथन है कि 'ब्रह्म' से लेकर 'स्तम्ब' पर्यन्त सभी प्राणधारियों की स्थिति अन्न से ही सम्भव है; आहुति-स्वरूप प्रदान किये गये अन्न से ही देव-गण उपजीवित रहते हैं। म्यूर—(वह अमरत्व का स्वामी है) क्योंकि (= यत्) वह अन्न से (= अन्नेन) फैलता है (= अतिरोहति)। ग्रास०—(वह अमरता का स्वामी है); जो (= यत्) हमारे यज्ञों से (= अन्नेन) पुष्ट की जाती है (= अतिरोहति)। पीट०—जो कुछ (= यत्) अन्न से (= अन्नेन) पुष्ट होता है (= अति-रोहति) अर्थात् 'सम्पूर्ण चेतन-जगत्' (वह भी पुरुष ही है)। ध्यातव्य है कि पीट० ने 'यद्भूतं यच्च भव्यम्' का अर्थ 'सम्पूर्ण जड-जगत्' किया है। मै०—(वह अमरता का स्वामी है) जिसे कि (यत्) वह अन्न से अर्थात् यज्ञान्न द्वारा (= अन्नेन) अतिक्रान्त करता है (= अतिरोहति)। मैक० का कहना है कि—'जो देवता यज्ञ के अन्न से बढ़ते हैं' तथा 'जो कुछ अन्न से उत्पन्न होता है'—इन दोनों व्याख्यानों में 'अति' का भाव पूरा-पूरा नहीं प्रकट हो पाता।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

पदपाठ—एतावान्। अस्य। महिमा। अतः। ज्यायान्। च। पुरुषः। पादः। अस्य। विश्वा। भूतानि। त्रिऽपात्। अस्य। अमृतम्। दिवि ॥ ३ ॥

सायणभाष्यम्—अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावदस्ति एतावान् सर्वोऽपि अस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः। न तु तस्य वास्तवस्वरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः अतः महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिकः। एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादः चतुर्थोंऽशः। अस्य पुरुषस्य अवशिष्टं त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सत् द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० आ० ८।१; तै० उ० २।१) इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः॥ ३॥

हिन्दी—इतनी (तो) [एतावान्] इस (पुरुष) की [अस्य] महिमा (मात्र) है [महिमा], पुरुष (अर्थात् उसका वास्तविक स्वरूप तो) [पुरुषः च] इससे [अतः] कहीं अधिक बड़ा (है) [ज्यायान्]। सम्पूर्ण (अर्थात् कालत्रयवर्ती) [विश्वा] प्राणी [भूतानि] इस (पुरुष) का [अस्य] एक-चौथाई भाग (है) [पादः], इसका [अस्य] (शेष) तीन-चौथाई अंश [त्रिपात्] द्युलोक में (है) [दिवि] (और) अविनाशी (है) [अमृतम्]॥ ३॥

टिप्पणियाँ—१. **एतावानस्य**—एतावान् + अस्य। ऋग्० के प्राचीन सूक्तों में इस प्रकार का सन्धि-कार्य दृष्टिगत नहीं होता। वहाँ 'एतावाँ अस्य' होता। इस प्रकार यह स्थल भी प्रकृत सूक्त की अपेक्षाकृत अर्वाचीनता का बोधक है।

२. **अतः**— = अस्मात् = इसकी अपेक्षा।

३. **पूरुषः**—संहिता पाठ में 'दीर्घ' किन्तु पद पाठ में ह्रस्वस्वर युक्त 'पुरुषः' ही होगा।

४. **अमृतम्**—सा० और मही०—विनाश-रहित। उव्वट—(क) ऋक्, यजुः और साम स्वरूप वाला। (ख) आदित्य स्वरूप।

५. **दिवि**—सा० और मही० द्योतनात्मक स्वप्रकाश स्वरूप में। उव्वट—द्युलोक में। मैक०—स्वर्ग में। पीट०—आकाश में।

विशेष—अथर्व० १०।८।७ में प्राप्त 'अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद्बभूव' वाली बात ही यहाँ दूसरे रूप में निरूपित है। दोनों में अनुपात का अन्तर है। यहाँ प्रकाश्यमान जगत् को पुरुष का एक-चौथाई अंश और प्रकाशक जगत् को शेष तीन-चौथाई अंश कह दिया जाना मानव-बुद्धि को अवगत कराने मात्र के लिये है। इससे 'पुरुष' की अनन्तता का खण्डन किया जाना अभिप्रेत नहीं है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

पदपाठ—त्रिऽपात् । ऊर्ध्वः । उत् । ऐत् । पुरुषः । पादः । अस्य । इह । अभवत् । पुनरिति । ततः । विष्वङ् । वि । अक्रामत् । साशनानशने इति । अभि ॥ ४ ॥

सायणभाष्यम्—योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयं ऊर्ध्व उदैत् अस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान् । तस्य अस्य योऽयं पादः लेशः सोऽयम् इह मायायां पुनः अभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति । अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं—'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' (भ० गी० १०।४२) इति । ततः मायायामागत्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान् । किं कृत्वा । साशनानशने अभि अभिलक्ष्य । साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनं प्राणिजातम् अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम् । तदुभयं यथा स्यात् तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

हिन्दी—तीन-चौथाई अंश वाला [त्रिपात्] पुरुष [पुरुषः] ऊपर उठ गया (अर्थात् ऊपर अमरों के लोक में स्थित हो गया) [ऊर्ध्वः उदैत्] (तथा) उसका [अस्य] एक-चौथाई अंश [पादः] यहां (अर्थात् इस जगत् में) [इह] बार-बार [पुनः] उत्पन्न होने लगा [अभवत्]; तब (अर्थात् इस जगत् में आविर्भूत होने के उपरान्त) [ततः] (वह) भोजन करने वाले (अर्थात् चेतन जगत्) और भोजन न करने वाले (अर्थात् जड़ जगत्) [साशन-अनशने] के रूप में [अभि] सभी ओर [विष्वङ्] व्याप्त हो गया [व्यक्रामत्] ॥ ४ ॥

टिप्पणियाँ—१. **ऊर्ध्व उदैत्**—सा० और मही०—(अज्ञान-जन्य संसार से बहिर्भूत तथा सांसारिक गुण-दोषों से अस्पृष्ट बन कर) उत्कर्ष-पूर्वक स्थित हो गया। उव्वट०—ऊपर प्रकाश मान है। दया०—(संसार से पृथक् होकर) उदय को प्राप्त होता है। मैक०—ऊपर (अर्थात् अमरों के लोक में) उठ गया। उदैत् = उत् + √इण् (= जाना) + लङ्, अन्य पु०, एक व० ।

२. **पादोऽस्येहाभवत्पुनः**—पादः + अस्य + इह + अभवत् + पुनः । सा० और मही०—उसका (= अस्य) एक चौथाई अंश (= पादः) मायावशात्

(= इह) सृष्टि और संहार के द्वारा बार-बार आता है (= पुनः अभवत्)। उव्वट—पुरुष का (= अस्य) एक अंश (= पादः) तीनों लोकों में (=इह) चारों प्रकार के प्राणियों में बीज भूत बन गया (पुनः अभवत्)। दया०—इस पुरुष का (= अस्य) एक अंश (= पादः) इस जगत् में (= इह) उत्पत्ति-प्रलय के क्रम से बार-बार हुआ करता है (= पुनः अभवत्)।

३. ततो विष्वङ् व्यक्रामत्—सा० और मही०—तब अर्थात् माया में आने के बाद (= ततः) देव-तिर्यक् मनुष्यादि रूप से विविध प्रकार का होकर (= विष्वङ्) वह व्याप्त हो गया (व्यक्रामत्)। उव्वट—उस कारण भूत पुरुष से (= ततः) भुवनकोश (= विष्वङ्) उत्पन्न हुआ (= व्यक्रामत्)। दया०-तब (= ततः) सर्वत्र व्याप्त होता हुआ (= विष्वङ्) वह विस्तृत हो गया (= व्यक्रामत्)। मैक०—वहाँ से (= ततः) वह सब ओर (=विष्वङ्) फैल गया (= व्यक्रामत्)। पीट०—वही।

४. साशनानशने अभि—स—अशन-अनशने अभि। सा० और मही०—भोजन करने वाले चेतन प्राणियों और भोजन न करने वाले गिरि-नदी आदि अचेतन पदार्थों को लक्ष्य करके अर्थात् उनके स्वरूप को धारण करके। उव्वट—स्वर्ग (= साशनं) और मोक्ष (= अनशनं) के प्रति (= अभि)। मैक०—सायणीय अर्थ। 'साशनानशने' में प्राप्त समास—योजना ऋग्वेद में द्वन्द्व समासों की अर्वाचीनतम अवस्था का बोध कराती है।

तस्मा॑द्वि॒राळ॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः।
स जा॒तो अत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः॥ ५॥

पदपाठ—तस्मा॑त्। वि॒ऽराट्। अ॒जा॒य॒त॒। वि॒ऽराजः॑। अधि॑। पुरु॑षः। सः। जा॒तः। अति॑। अ॒रि॒च्य॒त॒। प॒श्चात्। भूमि॑म्। अथो॒ इति॑। पु॒रः॥ ५॥

सायणभाष्यम्—विष्वङ् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते। तस्मात् आदिपुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेहः अजायत उत्पन्नः। विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्। विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषः तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत। सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मास्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देहं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत्। एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति—'स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रवि-

श्यामूढो मूढ़ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव' (नृता० २।१।९) इति। स जातः विराट् पुरुषः अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत्। विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत्। पश्चात् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज। पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि ॥ ५ ॥

हिन्दी—उस (आदि पुरुष) से [तस्मात्] विराट्-पुरुष [विराट्] उत्पन्न हुआ [अजायत] (तथा) विराट्-पुरुष की देह से [विराजः अधि] क्षुद्र-पुरुष (अर्थात्-जीव) [पुरुषः] (उत्पन्न हुआ)। वह (जीव) [सः] उत्पन्न होते ही [जातः] पृथ्वी के [भूमिम्] पीछे [पश्चात्] और [अथो] आगे [पुरः] (तथा उसके परे (भी) पहुँच गया [अत्यरिच्यत] ॥ ५ ॥

टिप्पणियाँ—१. **तस्मात्**—सा०, मही०—आदि पुरुष से। उव्वट—उसी पुरुष से। दया०—पूर्ण आदि पुरुष से। मैक०—पुरुष के अविकृत चतुर्थांश से।

२. **विराट्**—सा० और मही०—ब्रह्माण्डदेह (विविधानि राजन्ते वस्तूनि अत्र इति विराट्। दया०—विविध प्रकार के पदार्थों से प्रकाशमान ब्रह्माण्ड रूप संसार (विविधैः पदार्थैः राजते प्रकाशते स विराट्)। मैक—आदि पुरुष और व्याकृत पुरुष (= जीव) की बीच की स्थिति ही विराट् है। डा० फतेह सिंह इस विराट् को परम पुरुष से उत्पन्न **'प्रकृति-पुरुष'** मानते हैं, जिसका हवन होने से विविधरूप वाला विश्व उत्पन्न हुआ है (दे०—वैदिक दर्शन फतेह सिंह कृत' पृ० २०६)।

३. **विराळजायत**—विराट् + अजायत। 'झलां जशोऽन्ते' (पा० ८।२। ३९) से पदान्त 'ट्' को 'ड्' बना, जो कि आगे-पीछे दो स्वरों के मध्य में होने से 'ळ' बन गया। दे०—पदमध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः। पदमध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं बह्वृचा जगुः। इसी स्थिति में 'ढ' को 'ळ्ह' हो जाता है।

४. **विराजोऽधि पूरुषः**—सा० और मही०—विराड् देह के ऊपर, उसी देह को अधिकरण (= आधार) बनाकर, उस शरीर का अभिमानी (= प्रतिनिधिभूत) पुरुष नाम का कोई पुमान् उत्पन्न हुआ। परमात्मा ने अपनी माया से विराड् रूप ब्रह्माण्ड उत्पन्न किया और उसमें जीवरूप से प्रवेश करके उस ब्रह्माण्डदेह का अभिमानी देवात्मा 'जीव' बन गया—यह अभिप्राय है। उव्वट—विराट् से अधि-पुरुष अर्थात् प्रधान तेज (उत्पन्न हुआ, जो कि क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा से अभिन्न है)। दया०—विराट् संसार के (= विराजः) ऊपर अधिष्ठाता (= अधि) परिपूर्ण परमात्मा हुआ करता है [= पुरुषः]। मैक०

और पीट०—विराज् से पुरुष (उत्पन्न हुआ)। तुल०—अदितेर्दक्षो अजायत, दक्षात् उ अदितिः परि। (ऋग्० १०।७२।४)। डा० सुधीर कुमार गुप्त का मत है कि—(चूंकि पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ है, इसलिये—) पुरुष (= पुरुषः) विराट् का (= विराजः) अधिष्ठाता है (= अधि०)।

५. **स जातो अत्यरिच्यत**—सा० और मही०—वह (= जीव) उत्पन्न होते ही देव, तिर्यक् (= पशु-पक्षी) और मनुष्य आदि रूप वाला बन गया। उव्वट—वह क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा उत्पन्न होते ही प्रमुख हो गया। दया० की योजना इस प्रकार है—पहले से ही (=पुरः) प्रसिद्ध बना हुआ (= जातः) वह (= सः) जगत् से अतिरिक्त हो गया (= अत्यरिच्यत) और (= अथो) उसने बाद में (= पश्चात्) भूमि को बनाया (= भूमिम्)। मैक०—वह (= सः) पैदा होते ही (=जातः) पृथ्वी के परे पहुँच गया (=अत्य-रिच्यत्)।

६. **पश्चाद् भूमिं अथो पुरः**—सा० और मही०—बाद में अर्थात् देवतिर्यक्-मनुष्यादि जीवों की उत्पत्ति के पश्चात् (= पश्चात्) भूमि (= भूमिम्) और फिर अर्थात् भूमि की सृष्टि के बाद (= अथो) उन जीवों के शरीर (= पुरः) बनाये गये। पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिः इति पुरः शरीराणि। उव्वट—बाद में (= पश्चात्) उस क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा से भूमि (= भूमिम्) उत्पन्न हुई, और उसके बाद (= अथो) शरीर अथवा चारों प्रकार के प्राणी (= पुरः) उत्पन्न हुए। दया०—टिप्पणी नं० ५ देखिये। मैक०—(वह पैदा होते ही पृथ्वी के परे पहुँच गया) और पृथ्वी के पीछे और आगे (= भूमिं पश्चात् अथो पुरः) भी पहुँच गया।

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत ।

व॒स॒न्तो अ॑स्यासीदाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥ ६ ॥

पदपाठ—यत् । पुरु॑षेण । ह॒विषा॑ । दे॒वाः । य॒ज्ञम् । अत॑न्वत ।
व॒स॒न्तः । अ॒स्य॒ । आ॒सी॒त् । आज्य॑म् । ग्री॒ष्मः । इ॒ध्मः ।
श॒रत् । ह॒विः ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम्—यत् यदा पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवाः उत्तरसृष्टिसिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासंभवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन संकल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञं अतन्वत अन्व-तिष्ठन् तदानीम् अस्य यज्ञस्य वसन्तः वसन्तर्तुरेव आज्यम् आसीत् अभूत्। तमेवाज्यत्वेन संकल्पितवन्त इत्यर्थः। एवं ग्रीष्म इध्मः आसीत्। तमेवेध्मत्वेन

संकल्पितवन्त इत्यर्थः। तथा शरद्धविः आसीत्। तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन संकल्पितवन्त इत्यर्थः। पूर्वं पुरुषस्य हविःसामान्यरूपत्वेन संकल्पः। अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन संकल्प इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

हिन्दी—जब [यत्] देवताओं ने [देवाः] पुरुष-रूपी हवि से [पुरुषेण हविषा] यज्ञका विस्तार किया [यज्ञम् अतन्वत], (तब) वसन्त ऋतु [वसन्तः] उसका अर्थात् उस यज्ञ में प्रयुक्त [अस्य] घी [आज्यम्] था [आसीद्], ग्रीष्म ऋतु [ग्रीष्मः] ईंधन [इध्मः] (तथा) शरद् ऋतु [शरद्] हवि [हविः] ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ—१. **विशेष**—सा० और मही० इस मंत्र में 'बाह्य द्रव्यों के अनुपलब्ध होने से उत्तर सृष्टि की सिद्धि के लिये देवताओं द्वारा मानसयज्ञ का विस्तारित किया जाना' माना है। इस यज्ञ में आज्य, ईंधन और हवि के रूप में क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म तथा शरद् ऋतुओं का प्रयोग कल्पित है। उव्वट के अनुसार जिस प्रकार इन्द्रादि देवताओं ने हविर्भूत पुरुष से यज्ञ का विस्तार किया उसी प्रकार योगीजनों ने भी अमृतभूत तथा दीपित बने हुए आत्मा से आत्म-यज्ञ किया। इस यज्ञ में आज्य, ईंधन और हवि के रूप में प्रयुक्त वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतुयें क्रमशः सत्व, रजस् और तमस् गुणों की प्रतीक हैं। योगी लोग आत्मयज्ञ में इन्हीं तीनों गुणों का हवन करते हैं। दया० भी आज्य आदि बाह्य द्रव्यों के अभाव में 'ग्रहण किये जाने योग्य (= हविषा) पूर्ण परमात्मा के साथ (= पुरुषेण) देवताओं द्वारा (= देवाः) मानस-यज्ञ (= यज्ञं) का विस्तारित किया जाना (=अतन्वत)' स्वीकारते हैं। मैक० 'देवताओं द्वारा (= देवाः) व्याकृत पुरुष को हवि बना कर (= पुरुषेण हविषा) आदि पुरुष के प्रति एक आदर्श पुरुष-मेध (=नरमेध) यज्ञ (यज्ञम्) किया जाना (= अतन्वत)' स्वीकार करते हैं।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

पदपाठ—तम्। यज्ञम्। बर्हिषि। प्र। औक्षन्। पुरुषम्। जातम्। अग्रतः। तेन। देवाः। अयजन्त। साध्याः। ऋषयः। च। ये ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम्—यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। कीदृशमित्यत्राह। अग्रतः सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुषं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम्। एतच्च प्रागेवोक्तं—'तस्माद् विराळजायत विराजो

अधिपूरुषः' इति। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त मानसयागं निष्पादितवन्त इत्यर्थः। के ते देवा इत्यत्राह। साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः तदनुकूलाः ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः च ये सन्ति ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः ॥ ७ ॥

हिन्दी—(सृष्टि में) सबसे पहले [अग्रतः] उत्पन्न हुये [जातम्] उस [तम्] यज्ञीय (अर्थात् यज्ञ के साधनभूत) [यज्ञम्] पुरुष को [पुरुषम्] कुशाओं पर (अर्थात् कुशाच्छन्न यज्ञ-वेदिका पर) [बर्हिषि] जल से छिड़का (अर्थात् जल छिड़क कर उसे पवित्र किया) [प्रौक्षन्] (और) उस (याज्ञिक पुरुष) से [तेन] देवताओं ने [देवाः], साध्यों ने [साध्याः] और [च] जो [ये] ऋषि (थे) (उन्होंने) [ऋषयः] यज्ञ सम्पादित किया [अयजन्त] ॥ ७ ॥

टिप्पणियाँ—१. **जातमग्रतः**—अग्रतः जातम्। सा०, मही० और मैक०—(विराट् से उत्पन्न हुए व्याकृत पुरुष को) जो सृष्टि में सबसे पहले (= अग्रतः) उत्पन्न हुआ था (=जातम्)।

२. **बर्हिषि**—सा० और मही०—मानसयज्ञ में। उव्वट 'बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषेण' का—'बर्हिषा प्रोक्षितः पुरुषः, तेन'=प्राणायाम द्वारा (=बर्हिषा) प्रदीप्त किया गया (=प्रोक्षितः) दिव्य ज्ञान (=पुरुषः), (जिससे योगियों ने आत्म-यज्ञ निष्पादित किया)—अर्थ करते हैं। दया०—ज्ञानयज्ञ (यजु०-भाष्य), हृदय रूपी अन्तरिक्ष (ऋ० भा० भू०, पृ० १५८)।

३. **प्रौक्षन्**—प्र√उक्ष् (= छिड़कना) + लङ्, अन्य पु०, बहु ब०। सा० और मैक०—जल से छिड़का। उव्वट—दीपित किया)। दया०—सींचा अर्थात् धारण किया।

४. **साध्या ऋषयश्च ये**—सा० और मही०–सृष्टि-साधन-योग्य अर्थात् सृष्टि-साधक (देवताओं) ने तथा तदनुकूल मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने। उव्वट ने 'देवाः = ' से 'योगी-जन', 'साध्याः' से 'कपिलादिक साध्य पुरुष' तथा 'ऋषयः' से 'अन्य ऋषि'—ऐसा अर्थ ग्रहण किया है। मैक०—(देवताओं ने) साध्य-जनों (= देवताओं की एक पुरातन योनि विशेष) और ऋषियों ने। दया०—योगाभ्यास करने वाले (= साध्याः) ज्ञानी जनों ने (= ऋषयः)।

विशेष—इस मंत्र में सा० और मही० ने 'मानस-यज्ञ', उव्वट ने 'आत्म-यज्ञ', दया० ने 'ज्ञान-यज्ञ' और मैक० ने 'पुरुष-मेध-यज्ञ' का निर्देश माना है।

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒: सम्भृ॑तं पृषदा॒ज्यम्।

प॒शूँस्ताँश्च॑क्रे वाय॒व्या॑न्। आ॒र॒ण्या॒न्ग्रा॒म्याश्च॒ ये ॥ ८ ॥

पदपाठ—तस्मा॑त् । य॒ज्ञात् । स॒र्व॒ऽहु॒तः॑ । सम्ऽभृ॑तम् । पृ॒ष॒त्ऽआ॒ज्यम् । प॒शून् । तान् । च॒क्रे॒ । वा॒य॒व्या॑न् । आ॒र॒ण्यान् । ग्रा॒म्याः । च॒ । ये ॥ ८ ॥

सायणभाष्यम्—सर्वहुतः । सर्वात्मकः पुरुषः यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत् । तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तात् मानसात् यज्ञात् पृषदाज्यं दधिमिश्रमाज्यं संभृतं सम्पादितम् । दधि चाज्यं चेत्येवमादिभोग्यजातं सर्वं सम्पादितमित्यर्थः । तथा वायव्यान् वायुदेवताकाँल्लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान् । आरण्या हरिणादयः । तथा ये च ग्राम्याः गवाश्वादयः तानपि चक्रे । पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्वं यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते—'वायवः स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः । अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः । वायव एवैनान् परिददति' (तै० ३।२।१।३) इति ॥ ८ ॥

हिन्दी—उस [तस्मात्] सर्वहुत [सर्वहुतः] यज्ञ से [यज्ञात्] दधि-घृतादि (भोज्य पदार्थ) [पृषदाज्यम्] उत्पन्न किये गये [संभृतम्] (तथा उस पुरुष ने) वायुविहारी [वायव्यान्], अरण्यवासी [आरण्यान्] तथा [च] जो [ये] ग्रामनिवासी [ग्राम्याः] हैं, उन पशुओं को [तान् पशून्] बनाया [चक्रे] ॥ ८ ॥

टिप्पणियाँ—१. **सर्वहुतः यज्ञात्**—सा० सर्वात्मक परमात्मा का जिसमें हवन किया जाय, उस मानस-यज्ञ से । मही०—जिसमें सब कुछ होम दिया जाय, उस पुरुषमेध-यज्ञ से । दया०—सबसे ग्रहण किये जाने वाले (= सर्वहुतः) उस पूजनीय परमात्मा से (=तस्मात् यज्ञात्) । मैक०—जिसका पूर्णतः हवन कर दिया गया है (= सर्वहुतः), उस यज्ञ के साधनभूत मेध्य पुरुष से (= यज्ञात्) । मही० का अर्थ भी संगत प्रतीत होता है, दया० का भी और मैक० का भी । इसी लिये हमने हिन्दी-अनुवाद करते समय 'सर्वहुत यज्ञ' का प्रयोग किया है ।

२. **पृषदाज्यम्**—सा० और मही०—दधि-मिश्रित घृत (इससे समस्त प्रारम्भिक भोज्य-सामग्री बनाई गई, ऐसी समझना चाहिये) । दया०—वही । मैक०—जमा हुआ घृत ।

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ ऋचः॒ सामा॑नि जज्ञिरे ।
छन्दा॑ꣳसि जज्ञिरे॒ तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत ॥ ९ ॥

पदपाठ—तस्मा॑त् । य॒ज्ञात् । स॒र्व॒ऽहु॒तः॑ । ऋचः॑ । सामा॑नि ।

जज्ञिरे । छन्दांसि । जज्ञिरे । तस्मात् । यजुः । तस्मात् ।
अजायत ॥ ९ ॥

सायणभाष्यम्—सर्वहुतः तस्मात् पूर्वोक्तात् यज्ञात् ऋचः समानि च जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्माद् यज्ञात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्मात् यज्ञात् यजुः अपि अजायत ॥ ९ ॥

हिन्दी—उस [तस्मात्] सर्वहुत [सर्वहुतः] यज्ञ से [यज्ञात्] ऋचायें (अर्थात् ऋग्वेद) [ऋचः] (और) सा-मन् (अर्थात् सामवेद) [सामानि] उत्पन्न हुए [जज्ञिरे]। छन्द (भी) [छन्दांसि] उससे (ही) [तस्मात्] उत्पन्य हुए [जज्ञिरे] (और) यजुष् (अर्थात् यजुर्वेद) उससे (ही) [तस्मात्] उत्पन्न हुआ [अजायत] ॥ ९ ॥

टिप्पणियाँ—१. **ऋचः, सामानि, छन्दांसि, यजुः**—सा०, मही० और मैक०—ऋचायें, सामन्, छन्द और यजुष्। मैक० का विचार है कि यहाँ ही सर्वप्रथम तीन वेदों का निर्देश ध्वनित हुआ है। अथर्व० तो बहुत पीछे तक चतुर्थ वेद के रूप में स्वीकारा नहीं गया। दया०—'ऋचः, सामानि, यजुः' में ही सभी छन्द समाविष्ट हैं, अत एव 'छन्दांसि' से अथर्व० की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है। 'सेण्ट पीटर्स वर्ग 'कोष में 'छन्दस्' का अर्थ 'जादू-टोने वाला वाक्य' भी है। इसी आधार पर, जादू-टोने वाले मंत्रों की अथर्व में बहुलता होने से, पीट० भी 'छन्दांसि' से अथर्व० की ओर संकेत स्वीकारते हैं।

ऋग्वेद के स्तुति-परक मंत्रों को 'ऋक्' (= ऋचायें), सामवेद की गेय ऋचाओं को 'सामन्' (= साम) और दोनों से व्यतिरिक्त मंत्रों को 'यजुष्' कहते हैं, जोकि प्रायः गद्यमय होते हैं तथा यजुर्वेद से सम्बन्धित हैं।

२. जज्ञिरे—√जन् (आत्मने०) + लिट्, अन्य पु०, बहु व०।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥ १० ॥

पदपाठ—**तस्मात् । अश्वाः । अजायन्त । ये । के । च । उभयादतः ।**
गावः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् । तस्मात् । जाताः ।
अजावयः ॥ १० ॥

सायणभाष्यम्—तस्मात् पूर्वोक्ताद्यज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः। तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च—उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोरु-

भयोः दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त। तथा तस्मात् यज्ञात् गावः च जज्ञिरे। किंच तस्मात् यज्ञात् अजावयः च जाताः ॥ १० ॥

हिन्दी—उस (यज्ञ) से [तस्मात्] घोड़े [अश्वाः] उत्पन्न हुये [अजायन्त] और जो कोई भी [ये के च] ऊपर-नीचे दोनों ओर (नुकीले) दाँतों वाले हैं (अर्थात् गधे और खच्चर आदि) [उभयादतः] (वे भी उत्पन्न हुए)। उस (यज्ञ) से [तस्मात्] गायें (भी) [गावः] निश्चय ही [ह] उत्पन्न हुईं [जज्ञिरे] (तथा) उससे [तस्मात्] भेड़-बकरियाँ (भी) [अजावयः] उत्पन्न हुईं [जाताः] ॥ १० ॥

टिप्पणियाँ—१. **ये के चोभयादत**:—उभयोः दन्ताः न तु दंष्ट्राः येषां ते उभयदतः (वेदे उभयादतः)। स्पष्टीकरण विशेष के न होने से 'गावः' और 'अजावयः' को भी 'उभयादतः' की श्रेणी से अलग कर पाना कठिन है। स्पष्टीकरण के अभाव से हम भाष्यों के पारस्परिक अर्थ को ही स्वीकार किये लेते हैं।

२. **अजावयः**—अजाः च अवयश्च अजावयः इति द्वन्द्वः। पदपाठ बनाते समय द्वन्द्व समासों का पद-विग्रह नहीं किया जाता।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥

पदपाठ—यत्। पुरुषम्। वि। अदधुः। कतिधा वि। अकल्पयन्।
मुखम्। किम्। अस्य। कौ। बाहू इति। कौ।
ऊरू इति। पादौ। उच्येते इति ॥ ११ ॥

सायणभाष्यम्—प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवाः यत् यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः संकल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत्। कौ बाहू अभूताम्। का ऊरू। कौ च पादावुच्येते। प्रथमं सामान्यरूपः प्रश्नः पश्चात् मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः ॥ ११ ॥

हिन्दी—जिस समय [यत्] (देवताओं ने) पुरुष को [पुरुषम्] विभक्त किया [व्यदधुः], (तब उसे) कितने भागों में [कतिधा] कल्पित किया गया [व्यकल्पयन्]? उसका [अस्य] मुख [मुखम्] क्या (था) [किम्]? (उसकी) भुजायें [बाहू] कौन-कौन सी (थीं) [कौ]?

(उसकी) जंघायें [ऊरू] (और) पैर [पादाः] कौन-कौन [का] कहे जाते हैं [उच्येते] ? ॥ ११ ॥

टिप्पणियाँ—१. **विशेष**—यह मंत्र अग्रिम मन्त्र की प्रश्नात्मक पृष्ठभूमि मात्र है।

२. **पुरुषम्**—सा०—विराट्-रूप पुरुष। दया०—पूर्ण पुरुष। मैक—व्याकृत पुरुष।

३. **व्यदधुः**—वि + √धा + लङ्, अन्य पु०, बहु व०। सा०—संकल्प से उत्पादित किया। मही०—कालान्तर में उत्पन्न किया। दया०—विविध प्रकार से धारण करते हैं। मैक०—मेध्य पुरुष रूपी पशु को) काटा।

४. **व्यकल्पयन्**—वि + √क्लृप् + णिच् + लङ्, अन्य पु०, बहु व०। सा० और मही०—विविध प्रकार से कल्पित किया। दया०—विशेषतया कहते हैं (यजु० भाष्य), (उसके सामर्थ्यादि की) कल्पना करते हैं (ऋ० भा० भू०)। मैक०—बाँटा। पीट० रूप प्रदान किया।

५. **मुखं—आदि**—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' में जिस प्रकार अग्नि, यम और मातरिश्वा एक ही 'सत्' के द्योतक हैं, उसी प्रकार मुख, बाहु, ऊरू और पाद ये चारों नाम तथा उनसे द्योतित शक्तियाँ एक ही समष्टिमूल 'पुरुष' की अंगभूत हैं।

मुखम् = ज्ञान, प्रवचन, नेतृत्व आदि गुण।

बाहू = (√वह् = धारण करना) = धारक, बल, वीर्य, रक्षा, विनाश आदि गुण।

ऊरू = (√ऊर्ण = ढकना) = आच्छादन, धारण, पालन आदि गुण।

पादा = (√पद् = जाना) = गति, श्रम, तप आदि गुण।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

पदपाठ—ब्राह्मणः। अस्य। मुखम्। आसीत्। बाहू इति। राजन्यः। कृतः। ऊरू इति। तत्। अस्य। यत्। वैश्यः। पत्ऽभ्याम्। शूद्रः। अजायत ॥ १२ ॥

सायणभाष्यम्—इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति। अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः सः बाहू कृतः बाहुत्वेन निष्पादितः। बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत् तदानीम् अस्य प्रजापतेः यत् यौ ऊरू तद्रूपः

वैश्यः संपन्नः ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः । तथाऽस्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्व-जातिमान् पुरुषः अजायत । इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणदीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां सप्तमकाण्डे—"स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत" (तै० सं० ७।१।१।४) इत्यदौ विस्पष्टमाम्नाता । अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये ॥ १२ ॥

हिन्दी—ब्राह्मण-वर्ग [ब्राह्मणः] उस (पुरुष) का [अस्य] मुख [मुखम्] था [आसीत्], (उसकी) दोनों भुजायें [बाहू] क्षत्रिय-वर्ग [राजन्यः] बना दी गई [कृतः]। जो [यद्] वैश्य-वर्ग (था) [वैश्यः] वह [तद्] (उस पुरुष की) जंघायें (थीं) [ऊरू]। (उसके) दोनों पैरों से [पद्भ्याम्] शूद्र-वर्ग [शूद्रः] उत्पन्न हुआ [अजायत] ॥ १२ ॥

टिप्पणियाँ—१. विशेष—विद्वज्जन इस मंत्र में चातुर्वर्ण्य का स्पष्ट उल्लेख स्वीकारते हैं। तदनुसार पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई। मध्यकालीन पण्डितवर्ग इस वर्ण-व्यवस्था को जन्मतः मानकर समाज में वर्णों की प्रवरता-अवरता का निर्धारण करने लगा था, जोकि न्यूनाधिक रूप से अब भी विद्यमान है। दया० ने गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्ण-संज्ञा मानकर परस्पर वर्ण-परिवर्तन की सम्भावना पर बल दिया।

प्रस्तुत मंत्र में प्रयुक्त 'कृतः' और 'अजायत' पद ही वर्णोत्पत्ति के उप-स्थापक हैं। यह भी ध्यातव्य है कि चार वर्णों के नाम ऋग्० में केवल इसी मंत्र में आये हैं। इतना ही नहीं, प्रचलित प्रवरता-क्रम से 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र' का उल्लेख इस मंत्र को छोड़ कर चारों वेदों में कहीं नहीं मिलता। इस लिये डा० अम्बेदकर ने प्रस्तुत मंत्र एवं इसके पूर्ववर्ती मंत्र को प्रक्षिप्त माना है।

जो भी हो, हम पिछले मंत्र की टिप्पणी में कह चुके हैं कि 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र' एक ही पुरुष के अलग-अलग नाम हैं। फिर प्रवरता-अवरता कैसी ? किसी एक अंग के कट जाने से जिस प्रकार शरीर शिथिलशक्ति और विकृताकार हो जाता है। उसी प्रकार समाज से किसी भी वर्ण का विलगाव सामाजिक सन्तुलन का नाशक सिद्ध होगा। अत एव सभी का समान महत्त्व आंकना चाहिये।

२. **कृतः**—मैक० 'बाहू' के आधार पर इसे 'कृतौ' के अर्थ में स्वीकार करते हैं। किन्तु इसका 'राजन्यः' से समानाधिकरण होने से वैसी कोई समस्या ही नहीं उठती।

यद्वैश्यः—मैक०'-वैश्यः' मात्र के लिये 'यद्वैश्यः' प्रयोग किसी बात को घुमा कर कहने का एक ढंग है।

तुल०—इसी सूक्त का सप्तम मंत्र 'साध्या ऋषयश्चये'; अष्टममंत्र 'आरण्यान्ग्राम्याश्च ये'; दशम मंत्र 'ये के चोभयादतः'।

४. पद्भ्याम्—मै० ने यहाँ जनन के अर्थ में पंचमी मानी है। वस्तुतः यह भ्रान्ति 'अजायत' पद के कारण है। ११ वें मंत्र की टिप्पणी में निर्दिष्ट तथ्य की दृष्टि से अजायत का अर्थ 'उच्यते' लगाना होगा। तब फिर यहाँ 'जटाभिस्तापसः' के समान तृतीया होगी और 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' का अर्थ यह होगा—'गति' श्रम और तप आदि गुणों के कारण पुरुष 'शूद्र' भी है।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥

पदपाठ—चन्द्रमाः। मनसः। जातः। चक्षोः। सूर्यः। अजायत।
मुखात्। इन्द्रः। च। अग्निः। च। प्राणात्। वायुः।
अजायत ॥ १३ ॥

सायणभाष्यम्—यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादयः पशव ऋगादि वेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एवं चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोत्पन्ना इत्याह। प्रजापतेः मनसः सकाशात् चन्द्रमाः जातः। चक्षोः च चक्षुषः सूर्यः अपि अजायत। अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ। अस्य प्राणात् वायुरजायत ॥ १३ ॥

हिन्दी—(उस पुरुष के) मन से [मनसः] चन्द्रमा [चन्द्रमाः] उत्पन्न हुआ [जातः], आंख से [चक्षोः] सूर्य [सूर्यः] उत्पन्न हुआ [अजायत], मुख से [मुखात्] इन्द्र [इन्द्रः] और [च] अग्नि [अग्निः] तथा [च] प्राणों से [प्राणात्] वायु [वायुः] उत्पन्न हुआ [अजायत] ॥ १३ ॥

टिप्पणियाँ १. **चन्द्रमाः**—चन्दयति हर्षयति दीपयति वा स चन्द्रः। चन्द्रं मिमीतेऽसौ चन्द्रमाः (उणा० ४।२२८)। चन्द्रमा का शब्दगत अर्थ 'आल्हादक और प्रकाशक' है।

चन्द्रमा का मन के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध है। कलानुसार चन्द्रमा के बढ़ने-घटने से मन में अनेक प्रकार की विकृतियाँ वर्णित भी हैं और स्वयंसंवेद्य भी। इसीलिये चन्द्रमा का जन्म 'पुरुष' के मन से बताया गया है।

२. **सूर्य**—सूर्य की उत्पत्ति 'पुरुष' के नेत्र से बतलाना भी संगत है, क्योंकि सूर्य के कारण ही प्रकाश प्राप्त करके हमारे चक्षु कुछ देख पाने में

समर्थ हो पाते हैं। सूर्य और चक्षुष् के सम्बन्ध के लिए तुल०—'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा' (ऋग्० १०।१६।३)।

३. **इन्द्रश्चाग्निश्च**—इन्द्र = इन्द् + √द्द (अथवा द्रु)। यह इसीलिये सूर्य का प्रतिरूप भी माना गया है। ऋग्० १।१३६।६ में इसे अग्नि का विशेषण बनाया गया है। अन्यत्र इन्द्र का अग्नि। इन्दु, सोम और विष्णु से तादात्म्य भी प्राप्त है। (दे०—डॉ० सुधीर कुमार गुप्त कृत 'वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन, ४।१४६-१५०)।

अग्निः = अञ्जनं दहनं वा नयति इति सः। डॉ० फतेह सिंह इसे 'अ√ क्नूय् + क्विन्' से व्युत्पन्न मानते हैं। दे०—वै० ए०।

इन्द्र राजा होने के नाते देवताओं का पोषक है तथा अग्नि आहुति को तत्तत् देवताओं के पास पहुँचा देने वाली शक्ति के रूप में निरूपित है। शरीर के अन्य अवयवों के लिये ये दोनों काम मुख करता है। इसलिये इन्द्र और अग्नि की उत्पत्ति 'पुरुष' के मुख से बतलाई गई है।

४. **वायुः**—√वा (= जाना, बहना) + उण् (उणा० १।१)। श्वास-प्रक्रिया में अन्दर-बाहर आने-जाने वाली वायु ही प्राण है। 'प्राण वायु' शब्द प्रचलित है ही। इसी सम्बन्ध के कारण वायु का जन्म 'पुरुष' के प्राणों से बतलाया गया है।

५. **मनसः, चक्षोः, मुखात्, प्राणात्**—जिस प्रकार पिछले मंत्र के 'पद्भ्याम्' में इत्थंभूत लक्षण में तृतीया मान कर हमने समस्या का समाधान ढूँढ़ लिया था, उसी प्रकार यहाँ भी उक्त चारों पदों में 'हेतौ पंचमी' मानने पर ही हम उक्त समस्या से बच सकते हैं। हमें सबको 'पुरुष' का ही एक-पदेन अंग मानना अभिप्रेत है।

नाभ्या॑ आसीद॒न्तरि॑क्षं शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्तत।
प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ अ॑कल्पयन्॥ १४॥

पदपाठ—**नाभ्याः। आ॒सी॒त्। अ॒न्तरि॑क्षम्। शी॒र्ष्णः। द्यौः। सम्।**
अ॒व॒र्त॒त। प॒त्ऽभ्याम्। भूमिः॑। दिशः॑। श्रोत्रा॑त्। तथा॑।
लो॒कान्। अ॒क॒ल्प॒य॒न्॥ १४॥

सायणभाष्यम्—यथा चन्द्रादीन् प्रजापतेः मनः प्रभृतिभ्योऽकल्पयन् तथा अन्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापतेः नाभ्यादिभ्यो देवाः अकल्पयन् उत्पादितवन्तः। एतदेव दर्शयति। नाभ्याः प्रजापतेर्नाभेः अन्तरिक्षमासीत्।

शीर्ष्णः शिरसः द्यौः समवर्तत उत्पन्ना। अस्य पद्भ्यां पादाभ्यां भूमिः उत्पन्ना। अस्य श्रोत्रात् दिशः उत्पन्नाः ॥ १४ ॥

हिन्दी—(उस पुरुष की) नाभि से [नाभ्याः] अन्तरिक्ष [अन्तरिक्षम्] हुआ [आसीत्], सिर से [शीर्ष्णः] द्युलोक [द्यौः] बना [समवर्तत] दोनों पैरों से [पद्भ्याम्] भूलोक [भूमिः] (तथा) कानों से [श्रोत्रात्] दिशायें [दिशः] (बनीं)—इस प्रकार [तथा] (देवताओं ने) सभी लोकों को [लोकान्] कल्पित किया [अकल्पयन्] ॥ १४ ॥

टिप्पणियाँ—१. **नाभ्याः**—√नह् (= बांधना) + इञ् (उणा० ४।११८), पंचमी, एक व०। = जो सबको बांधे हुए है, व्याप्त किये हुए है। माँ की कुक्षि में स्थित शिशु नाभितन्तु से ही बँधा होता है। शरीर का मध्य भाग होने से नाभि के साथ जो 'अन्तरिक्ष' को यहाँ सम्बद्ध किया गया है, वह सुसंगत ही है, क्योंकि उसकी भी तो 'मध्य लोक' संज्ञा है—नीचे भूलोक, ऊपर द्युलोक।

२. **शीर्ष्णः, पद्भ्याम्**—'पुरुष' के शीर्ष से द्युलोक और पैर से भू-लोक के बनने का कथन भी टिप्पणी—१ के आधार पर समीचीन ही है। ध्यातव्य है कि 'नाभ्याः' शीर्ष्णः, पद्भ्यां और 'श्रोत्रात्' में प्राप्य पंचमी विभक्ति यहाँ भी हेत्वर्थ में ही है, (हेतौ पंचमी)। दे०—इसी सूक्त के १४ वें मंत्र की टिप्पणी—५।

३. **श्रोत्रात्**—दिशायें भी शून्य-आपूरित और शब्दमय होती हैं, कर्णेन्द्रिय भी।

४. **तथा**—सा० और मही०—(जिस प्रकार देवताओं ने 'पुरुष' के मन आदि से चन्द्र आदि की सृष्टि की) उसी प्रकार………। मैक०—इस प्रकार से।

५. **समवर्तत**—मैक० भी इसे 'पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्' के साथ अन्वित करते हैं। इसी प्रकार एक क्रिया के अन्यत्र भी अन्वित किये जाने के लिये तुल०—'अधिसमवर्तत' (ऋग्० १०।१२९।४)।

सप्तास्यासन्परिधयः त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

पदपाठ—सप्त। अस्य। आसन्। परिऽधयः। त्रिः सप्त। सम्ऽइधः। कृताः। देवाः। यत्। यज्ञम्। तन्वानाः। अबध्नन्। पुरुषम् पशुम् ॥ १५ ॥

सायणभाष्यम्—अस्य सांकल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधयः आसन्। ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रयः परिधयः उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः। अत एवाम्नायते—"न तस्य पुरस्तात् परि दधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति" (तै० सं० २।६।६।३) इति। तत एत आदित्यसहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्त छन्दोरूपाः। तथा समिधः त्रिः सप्त त्रिगुणीकृतसप्तसंख्याकाः एकविंशतिः कृताः।—"द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः" (तै० सं० ५।१।१०।३) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविताः। यत् यः पुरुषो वैराजोऽस्ति तं पुरुषं देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपाः यज्ञं तन्वानाः मानसं यज्ञं तन्वानाः कुर्वाणाः पशुम् अबध्नन् विराट् पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र 'यत्पुरुषेण हविषा' इत्युक्तम् ॥ १५ ॥

हिन्दी—यज्ञ का विस्तार करने वाले (अर्थात् यज्ञ-सम्पादक) [यज्ञं तन्वानाः] देवताओं ने [देवाः] जब [यत्] मेध्यपुरुष को [पुरुषम्] (यूप में) बाँधा (अर्थात् संयत किया) [अबध्नन्], (तब) उसकी [अस्य] सात [सप्त] परिधियाँ [परिधयः] थीं [आसन्] (और) इक्कीस [त्रिः सप्त] समिधायें [समिधः] बनाई गई [कृताः] ॥ १५ ॥

टिप्पणियाँ—**१. सप्त परिधयः**—सा० [क] (पूर्वोक्त सांकल्पिक यज्ञ में प्रयुक्त) गायत्री आदि सात छन्द ही उसकी सप्त संख्यक परिधियाँ थीं। [ख]—याज्ञिक अग्नि की तीन परिधियाँ, तीन उत्तरवेदिकायें और (सातवाँ) आदित्य—ये सात उसकी परिधियाँ थीं।

विशेष—याज्ञिक अग्नि के चारों ओर रक्खी जाने वाली हरी-हरी यष्टिकाओं को परिधियाँ कहते हैं। सा० के अनुसार उक्त सात परिधियों के प्रतीक सात छन्द हैं। गायत्री, बृहती, जगती, पंक्ति, अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और उष्णिक् ये सात प्रमुख वैदिक छन्द हैं।

उव्वट०—[क]—(इन्द्रादि द्वारा निष्पादित पुरुष-मेध नामक यज्ञ में) सात समुद्र ही उसकी सात परिधियाँ थीं। [ख]—(योगियों द्वारा समाधि नामक जो आत्म-यज्ञ किया जाता है, उसमें) पृथ्वी, जल, प्रकाश, वायु, आकाश, मन और बुद्धि—ये सात परिधियाँ कल्पित की जाती हैं।

विशेष—क्षीरोद, दधिमण्डोद, घृतोद, इक्षुरसोद, सुरोद, स्वादूद और लवणोद ये सात समुद्र पुराणों में उल्लिखित हैं।

महीο—[क] सायण-सम्मत प्रथम अर्थ। [ख] सायण सम्मत द्वितीय अर्थ। [ग] उव्वट—सम्मत 'सात समुद्र रूपी परिधियों' वाला अर्थ।

दयाο—१. समुद्र २. त्र्यसरेणु-युक्त वायु ३. मेघमण्डलस्थ वायु ४. वृष्टि-जल ५. वृष्टि-जल के ऊपर स्थित वायु का अत्यन्त सूक्ष्म धनञ्जय तत्त्व ७. सर्वव्यापी सूत्रात्मा ब्रह्म—ब्रह्माण्ड में नीचे से ऊपर क्रमशः स्थित ये सात आवश्यक ही उक्त सात परिधियाँ हैं। देο—ऋο भाο भूο।

मैकο—सात परिधियाँ (= याज्ञिक अग्नि को घेरने के लिये बनाये जाने वाले बाड़े में बाँधी जाने वाली हरी लकड़ियाँ)। वैसे इस प्रकार की तीन परिधियों का ही प्रयोग प्रायः होता है, किन्तु 'सप्त' अर्थों की शुभ-संख्या होने से उसका 'अनेक' के अर्थ में प्रयोग हुआ है।

इन सभी अर्थों में से दयाο का अर्थ सर्वाधिक विज्ञान-सम्मत लगता है। सृष्टि-यज्ञ में उक्त सात आवरकों का कथन सर्वाधिक संगत है।

१. **त्रिःसप्त समिधः**—साο—त्रिगुणीकृतसप्तसंख्यक (अर्थात् इक्कीस) समिधायें—१२ महीने, ५ ऋतुयें, ३ लोक और १ आदित्य—इन वेदोक्त पदार्थों को ही इक्कीस लकड़ियों वाले ईंधन के रूप में कल्पित कर लिया गया।

उव्वट—[क]—(पुरुष-मेध यज्ञ में) गायत्री आदि इक्कीस छन्दों को समिधा बनाया गया। [ख] (आत्म-यज्ञ में) पृथिवी आदि पञ्च महाभूत रूपादि पञ्च तन्मात्रायें, श्रोत्रादि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पाणि-आदि पञ्च कर्मेन्द्रियाँ और मन—इस प्रकार इन इक्कीस को समिधा के रूप में कल्पित किया जाता है।

विशेष—पंच महाभूत = पृथिवी, जल, प्रकाश, वायु और आकाश। पंच-तन्मात्रायें = गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। पंच-ज्ञानेन्द्रियाँ = श्रोत्र, चक्षु, नासिका, जिह्वा और त्वचा। पंच कर्मेन्द्रियाँ=पाणि, पाद, पायु (=मलद्वार), उपस्थ (= मूत्राशय) और मुख।

महीο—[क]—सायण-सम्मत '१२ महीने, ५ ऋतुयें, ३ लोक और १ आदित्य' वाला अर्थ। [ख]—उव्वट-सम्मत गायत्री आदि इक्कीस छन्द' वाला अर्थ। गायत्री आदि सात छन्द, अतिजगती आदि सात छन्द और कृति-आदि सात छन्द = इक्कीस छन्द।

विशेष—गायत्री-आदि = गायत्री, बृहती, जगती, पंक्ति, अनुष्टुप्, और उष्णिक्। अतिजगती-आदि = अतिजगती, शक्करी, अतिशक्करी, अष्टि,

अत्यष्टि, धृति और अतिधृति। कृति-आदि=कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अतिकृति और उत्कृति।

३. तन्वानाः—√तन् + शानच्, प्रथमा, बहु व०।

४. अबध्नन्—√बन्ध् + लङ्, अन्य पु०, बहु व०।

५. पुरुषम् पशुम्—सा० और मही०—पशुरूपेण भावित विराट् पुरुष को। उव्वट—पुरुषमेधरूपेण स्थित ज्ञान को। दया०—सर्वद्रष्टा सर्व-पूजनीय और सर्वद्रष्टव्य (=पशुम्) सूर्यात्मा ब्रह्म को (=पुरुषम्)। मैक०—हवनीय (=पशुम्) पुरुष को (=पुरुषम्)। तुल०—'पुरुषेण हविषा' और 'तं यज्ञं पुरुषम्' (इसी सूक्त के क्रमशः छठे और सातवें मंत्र में प्राप्य)।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

पदपाठ—यज्ञेन। यज्ञम्। अयजन्त। देवाः। तानि। धर्माणि। प्रथमानि। आसन्। ते। ह। नाकम्। महिमानः। सचन्त। यत्र। पूर्वे। साध्याः। सन्ति। देवाः॥१६॥

सायणभाष्यम्—पूर्वं प्रपञ्चेनोक्तमर्थं संक्षिप्यात्र दर्शयति। देवाः प्रजापतिप्राणरूपाः यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन संकल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिम् अयजन्त पूजितवन्तः। तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यानि आसन्। एतावता सृष्टिप्रति-पादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः। अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते। यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातना विराडुपास्तिसाधकाः देवाः सन्ति तिष्ठन्ति तत् नाकं विराट् प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानः तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति-प्राप्नुवन्ति॥ १६॥

हिन्दी—देवताओं ने [देवाः] यज्ञ के साधनभूत (पुरुष) से [यज्ञेन] सृष्टि—यज्ञ को [यज्ञम्] सम्पादित किया [अयजन्त]। वे ही (अर्थात् उक्त यज्ञ में विधि-सूचिका तत्तत् बातें) [तानि] प्राथमिक [प्रथमानि] (यज्ञ-निर्धारक) नियम [धर्माणि] थे [आसन्]। (उस यज्ञ से प्रादुर्भूत) वे शक्तियाँ [ते महिमानः] निश्चय ही [ह] स्वर्ग-लोक को [नाकम्] जा पहुँचीं [सचन्त], जहाँ कि [यत्र] पुरातन (अर्थात् सृष्टि-रचना के पूर्व विद्यमान) [पूर्वे] साध्य देवता (अर्थात् सृष्टिसाधक देवगण) [साध्याः देवाः] रहा करते हैं [सन्ति]॥ १६॥

टिप्पणियाँ—१. **यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त**—सा०—पूर्वोक्त मानसिक संकल्प के द्वारा [= यज्ञेन] यज्ञस्वरूप प्रजापति को [यज्ञम्]। पूजित किया [= अयजन्त]। उव्वट—[पुरुष मेधयज्ञपक्षे] ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ से (= यज्ञेन) यज्ञ-पुरुष वासुदेव को (=यज्ञम्) विधिवत् यजन किया अर्थात् उनके प्रति यज्ञाहुतियाँ प्रदान कीं (=अयजन्त) [आत्मयज्ञपक्षे]—समाधि के द्वारा (= यज्ञेन) ज्ञानरूप नारायण के प्रति (यज्ञम्) यजन किया (= अयजन्त)। महो०—सायण वाला अर्थ। दया०—ज्ञान-यज्ञ से (दे०—यजु० भा०) अथवा प्रार्थना उपासना आदि पूजन से (दे०—ऋ० भा० भू०) [= यज्ञेन] यजनीय अर्थात् पूजनीय परमेश्वर की [= यज्ञम्] पूजा की [= अयजन्त]। मैक०—यज्ञ में हविरूपेण प्रयुक्त पुरुष से (= यज्ञेन) यज्ञस्वरूप पुरुष के प्रति (= यज्ञम्) यज्ञ किया (= अयजन्त)। ब्राह्मण ग्रंथों में जिस प्रकार विष्णु को यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है। उसी प्रकार यहाँ पुरुष को यज्ञरूपेण कल्पित किया गया है।

२. **देवाः**—सा० और महो०—प्रजापति के प्राण रूपी देवता। उव्वट—[पुरुषमेधयज्ञपक्षे]—इन्द्रादि देवोंने। [आत्मयज्ञपक्षे] योगी जनों ने (दीपनाद् देवाः)। दया० और मैक०—(मात्र) देवताओं ने।

३. **तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्**—सा० और महो०—ने (अर्थात् जगत्प्रसिद्ध) [=तानि] जगत्स्वरूप विकारों के धारक (अर्थात् उनकी उत्पत्ति में कारण भूत उक्त यज्ञ-कर्ता देवगण) [= धर्माणि] सर्वप्रमुख थे (अर्थात् हो गये) [प्रथमानि आसन्]। उव्वट—ने [= जाति] यजनरूपीधर्म अथवा यजन के धर्म [= धर्माणि] प्राथमिक थे (अर्थात् इसके पूर्व यज्ञ के निर्धारक नियमादि अप्राप्त थे) [= प्रथमनि आसन्]। आत्म-यज्ञपक्षे—वे समाधि रूपी धर्म [= तानि धर्माणि] प्रथम ही थे [= प्रथमानि आसन्]। दया०—धारणात्मक (दे०—यजु० भा०) अथवा कारणीय (दे०—ऋ० भा० भू०) वे अर्थात् पूर्व-वर्णित यजन-कर्म [= तानि] मुख्य थे (दे०—यजु० भा०) अथवा सभी कर्मों के आदि में किये जाने योग्य थे (दे०—ऋ० भा० भू०) [= प्रथमानि आसन्]। मैक०—वे ही [= तानि] सबसे पहले प्रयुक्त [= प्रथमानि] यज्ञ सबन्धी नियम [= धर्माणि] थे [= आसन्]।

४. **महिमानः**—सा० और महो०—विराट् रूप प्रजापति के उपासक महात्मा लोग। उव्वट—महाभाग्यशाली लोग। आत्मयज्ञपक्षे—जन्मान्तरों के द्वारा निर्धूत गुण वाले अर्थात् विशुद्ध योगी जन। दया०—महत्त्व से युक्त पूज्य विद्वान्। मैक०—यज्ञ में निहित शक्तियाँ।

५. **नाकं सचन्त**—सा० और मही०—विराट् प्राप्ति रूप स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। उव्वट—स्वर्ग का सेवन करते हैं। आत्मयज्ञपक्षे—सनकादिक ऋषियों के स्थान को प्राप्त होते हैं अथवा नारायण नामक पुरुष में प्रवेश कर जाते हैं अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

दया०—दुःखरहित मुक्ति-सुख को अथवा सर्वविध दुःखों से रहित परमेश्वर को प्राप्त होते हैं। मैक०—(वे यज्ञ-निहित शक्तियाँ) आकाश में [नाकम्] पहुँच गईं [सचन्त]

सचन्त = √सच् + लङ्, अन्य पु०, बहु व० (किन्तु इसमें 'अट्' यथा 'अगच्छत्' के 'अ' का अभाव प्राप्त है)।

६. **पूर्वे साध्याः देवाः**—सा० और मही०—पुरातन [पूर्वे] विराट् की उपासना के साधक [= साध्याः] देवगण [= देवाः]। उव्वट—प्राथमिक अथवा पूर्ववर्ती [= पूर्वे] सुर-गण [=साध्याः] तेज से देदीप्यमान (=देवाः] (हैं)। दया०—प्राचीन (= पूर्वे) साधन सम्पन्न अथवा साधना कर लेने वाले [= साध्याः] देदीप्यमान विद्वज्जन [= देवाः]। मैक०—प्राचीन [= पूर्वे] साध्य कोटि के [=साध्याः] देवता [=देवाः]।

प्रजापतिसूक्तम्

(ऋग्० १०।१२१)

[इस सूक्त के ऋषि 'प्रजापति के पुत्र हिरण्यगर्भ' देवता 'क' नामधारी प्रजापति, छन्द 'त्रिष्टुप्' और स्वर 'धैवत' हैं ।]

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

पदपाठ—हिरण्यऽगर्भः । सम् । अवर्तत । अग्रे । भूतस्य । जातः । पतिः । एकः । आसीत् । सः । दाधार । पृथिवीम् । द्याम् । उत । इमाम् । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ १ ॥

सायणभाष्यम्—'हिरण्यगर्भ' इति दशर्चं नवमं सूक्तं प्रजापति-पुत्रस्य हिरण्यगर्भाख्यस्यार्षं त्रैष्टुभम् । 'क' शब्दाभिधेयः प्रजापतिर्देवता । तथा चानुक्रान्तम्—'हिरण्यगर्भोदश हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः कायम्' इति । गतः सूक्तविनियोगः । प्राजापत्यस्य पशोर्वपा पुरोडाशहविषां क्रमेणादितस्तिस्रोऽनुवाक्यास्ततस्तिस्रो याज्याः । सूत्रितं च—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इति षट् प्राजापत्याः' (आश्व० श्रौ० ३।८) इति । वरुणप्रघासेषु कायस्य हविषो हिरण्यगर्भ इत्येषा याज्या । सूत्रितं च—'कया नश्चित्र आ भुवद्धिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इति प्रतिप्रस्थाता वाजिने तृतीयः' (आश्व० श्रौ० २।१७) इति ।

हिरण्यगर्भः हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः । तथा च तैत्तिरीयकम्—'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः प्रजापतेरनुरूपत्वाय' (तै० सं० ५।५।१।२) इति । यद्वा—हिरण्मयोऽण्डो गर्भवद् यस्योदरे वर्तते सोऽसौ सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ इत्युच्यते । अग्रे प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् समवर्तत । मायाध्यक्षात् सिसृक्षोः परमात्मनः समजायत । यद्यपि परमात्मैव हिरण्यगर्भः तथापि तदुपाधिभूतानां वियदादीनां ब्रह्मण उत्पत्तेस्तदुपहितोऽप्युत्पन्न इत्युच्यते । स च जातः जातमात्र एव एकः अद्वितीयः सन् भूतस्य विकारजातस्य ब्रह्माण्डादेः सर्वस्य जगतः पतिः ईश्वरः आसीत् । न केवलं पतिरासीदेव अपि तर्हि सः हिरण्यगर्भः पृथिवीं विस्तीर्णां द्यां दिवम् उत अपि च इमाम् अस्माभिर्दृश्यमानां पुरोवर्तिनीमिमां भूमिम् । यद्वा—पृथिवीत्यन्तरिक्षनाम । अन्तरिक्षं दिवं भूमिं च दाधार धार-

यति। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इति सार्वकालिको लिट्। तुजादित्वादभ्यासदीर्घः (पा० ६।१।७)।

कस्मै। अत्र किं-शब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्तते। यद्वा—सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः। कमेर्डप्रत्ययः। यद्वा—कं सुखम्, तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। अथवा—इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिर्मदीयं महत्त्वं तुभ्यं प्रदायाहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। स इन्द्रः प्रत्यूचे यदीदं ब्रवीष्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रजापतिराख्यायते। 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याब्रवीत्' (ऐ० ३।२१) इत्यादिकं ब्राह्मणमन्त्रानुसंधेयम्। यदासौ किं-शब्दस्तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः सिद्धः। यदा तु यौगिकस्तदा व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम्। 'सावेकाचः०' (पा० ६।१।१६५) इति प्राप्तस्य 'न गोश्वन्साववर्ण०' (पा० ६।१।१८२) इति प्रतिषेधः। 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। कं प्रजापतिं देवाय देवं दानादिगुणयुक्तं हविषा प्राजापत्यस्य पशोर्वपारूपेणैककपालात्मकेन[1] पुरोडाशेन वा विधेम वयमृत्विजः परिचरेम। विधतिः परिचरणकर्मा ॥ १ ॥

हिन्दी—(सृष्टि में) सबसे पहले [अग्रे] हिरण्यगर्भ [हिरण्यगर्भः] उत्पन्न हुआ [समवर्तत]; पैदा होते (ही) [जातः] (वह) (सम्पूर्ण) सृष्ट जगत् का [भूतस्य] एकमात्र [एकः] स्वामी [पतिः] हो गया [आसीत्]; उसने [सः] अन्तरिक्ष-लोक [पृथिवीम्], द्यु-लोक [द्याम्] और [उत] इस (भू-लोक) को [इमाम्] धारण किया हुआ है [दाधार]—(उसे छोड़कर हम) किस (अन्य) [कस्मै] देवता के लिए [देवाय] हव्य सामग्री से [हविषा] (हवन आदि का) विधान करें [विधेम]? ॥१॥

टिप्पणियाँ—१. हिरण्यगर्भः—सा०—(क) स्वर्णिम अण्डे का गर्भभूत अर्थात् उससे उत्पन्न प्रजापति। (ख) स्वर्णिम अण्डे को अपने उदर में गर्भवत् धारण करने वाला सूत्रात्मा प्रजापति। उव्वट—हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति। मही०—हिरण्यपुरुष रूपी ब्रह्माण्ड में गर्भरूपेण स्थित प्रजापति। पीट०—स्वर्ण-बीज। दया०—(क) परमेश्वर (ख) सूर्यादिक तेजोमय पदार्थों का धारक परमात्मा। पीट० एवं दया० की ही परम्परा में वालेस हिरण्यगर्भ प्रजापति का सूर्य से तादात्म्य स्थापित करते हैं। हमें भी यह मन्तव्य युक्ति-युक्त लगता है। सूर्य के हिरण्यहस्त, हिरण्यपाणि, हिरण्य-केश, हिरण्याक्ष आदि अभिधान; उसके स्वर्णाभ वस्त्र; स्वर्णिम रथ पर उसका आरोहण आदि उक्त कथ्य के पोषक हैं। विष्णु, वरुण, पूषण, सवितृ, मित्र, अर्यमा, भग, दक्ष और अंश

१. पाठा०—'वपारूपेणैककपालाख्येन'

आदि अनेक रूपधारी सूर्य 'प्रजापति' ही है (दे०—ऋ० २।२७।१)। मनुस्मृति (१।५–९) में भी सृष्टि की उत्पत्ति हिरण्यगर्भ से बतलाई गई है। हिरण्यगर्भ प्रजापति से अथवा स्वर्णिम अण्डे से सृष्टि की उत्पत्ति मानने वाले उन वैज्ञानिकों से भिन्नमत नहीं हैं, जो कि सूर्य के खण्डित अंशों से विविध ग्रहों की उत्पत्ति स्वीकारते हैं।

२. **अग्रे**—सा०—सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व। उव्वट—सृष्टि में सबसे पहले (शरीरधारी बना)। मही०—प्राणिजात की उत्पत्ति के पूर्व (स्वयं शरीरधारी बना)। पीट०—प्रारम्भ में अर्थात् सृष्टि की प्रारम्भिक स्थिति में। दया०—सायणीय अर्थ का पोषण।

३. **समवर्तत**—सम् √वृत् (=होना) + लङ्, अन्य पु०, एक व०। सा०—(माया के अध्यक्षभूत और सृष्टि-उत्पत्ति की कामना करने वाले परमात्मा से) उत्पन्न हुआ। **उव्वट**—सर्वप्रथम शरीर-धारण किया। मही०—स्वयं शरीरधारी बना। पीट०—अस्तित्व में आया अर्थात् उत्पन्न हुआ।

४. **भूतस्य**—सा०—समग्र विकारजात का अर्थात् ब्रह्माण्ड आदि सम्पूर्ण जगत् का। उव्वट०—उत्पन्न हुए समस्त प्राणिजात का। मही०—वही। पीट०—प्रत्येक प्राणी का। दया०—उत्पन्न हुए समस्त जगत् का। यजु० २३।१ में भी उन्होंने इसका 'उत्पन्न कार्यरूप जगत्' अर्थ किया है। दया० का अर्थ हमें भी मान्य है। सा० भी ठीक ही हैं। किन्तु उव्वट, मही० और पीट० का अर्थ हमें इसलिए अमान्य है कि अभी-अभी हिरण्यगर्भ को 'अग्रे समवर्तत' कहा गया है। फिर उसके पूर्व अन्य प्राणियों की कल्पना, जिनका वह स्वामी बना, सर्वथा असङ्गत लगती है। सुधीरकुमार गुप्त का 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पञ्चमहाभूतों का' अर्थ भी ग्राह्य हो सकता है।

५. **जातः**—सा०, उव्वट और मही०—पैदा होते ही। पीट०—(सम्पूर्ण प्राणियों का एक स्वामी) उत्पन्न हुआ। दया०—उत्पन्न हुए (सम्पूर्ण जगत्) का। उन्होंने 'जातः' को षष्ठी के अर्थ में प्रयुक्त प्रथमा वि० का रूप माना है।

६. **पतिः**—सा०, उव्वट और मही०—ईश्वर। दया०—पालनकर्ता। पीट०—स्वामी।

७. **पृथिवीं द्यामुतेमाम्**—सा०—(क)-विस्तृत [=पृथिवीम्] द्युलोक को [=द्याम्] तथा [=उत] इस दृश्यमान भूमि को [=इमाम्] (ख)—अन्तरिक्ष को [=पृथिवीम्], द्युलोक को [=द्याम्] और [=उत] इस भूलोक को [=इमाम्]। उव्वट और मही०—सायणीय द्वितीय अर्थ।

पीट०—पृथिवी और आकाश को (वे सम्भवतः 'इमाम्' को छोड़ देते हैं)। दया०—(क) पृथ्वी से लेकर सूर्य-पर्यन्त समस्त जगत् को। (ख) विस्तृत भूमि और सूर्य आदि की सृष्टि को। (ग) प्रकाश-रहित भू-लोक आदि को [= पृथिवीम्], प्रकाश-युक्त सूर्य-लोक आदि को [= द्याम्] और [= उत] इस वर्तमान सृष्टि को [= इमाम्]।

८. **कस्मै**—किम् का चतुर्थी एकवचन। सा०—(क)–अनिर्ज्ञात स्वरूप वाले प्रजापति को। (ख) सृष्टि-रचना की इच्छा करने वाले (प्रजापति) को। √कम् (= इच्छा करना)+ड प्रत्यय = कः, तस्मै। (ग) सुख-स्वरूप (प्रजापति) को। कं सुखं, तद्रूपत्वात् कः प्रजापतिः, तस्मै। (घ) 'क' नामधारी प्रजापति को। ऐ० ब्रा० (३।२१) के अनुसार प्रजापति ने इन्द्र से कहा कि मैं अपना महत्त्व तुम्हें प्रदान करके स्वयं क्या बनूँगा (= कः स्याम्)। इन्द्र ने उत्तर दिया कि जो कुछ तुम कह रहे हो (अर्थात् 'कः' स्याम्), वही (अर्थात् 'कः') बन जाओ। इस तरह प्रजापति का 'कः' नाम भी प्रसिद्ध है।

आधुनिक विद्वान् 'कस्मै' को प्रश्नवाचक मानते हैं। कस्मै देवाय = किस देवता को ?। उनका तर्क है कि यदि 'कः' का प्रयोग 'प्रजापति' ही अभीष्ट होता, तो 'कस्मै' के स्थान पर 'काय' का प्रयोग किया जाता। फिर वैदिक धर्म के बहुदेवतावादी होने से भी यह सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि के मन में यह जिज्ञासा उठे कि सब देवताओं में कौन सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि है, जिसकी हम वन्दना-अर्चना कर सकें। श्रेष्ठता-निर्धारण की इसी जिज्ञासा का द्योतक है 'किम् + चतुर्थी एकवचन' = 'कस्मै' का प्रयोग। दे०—मैक्स०—'वैदिक हिम्स' १, पृ० ११–१३; हॉपकिन्स–'रिलीज़न्स ऑफ इण्डिया', पृ० १८२; मैक०–'भण्डारकर कामोमोरेशन वाल्यूम', पूना १९१७ में प्रकाशित लेख; म्यूर—'संस्कृत टेक्स्ट्स' ४, १६–१७ आदि।

किन्तु उपर्युक्त मत कदाचिदपि स्वीकार्य नहीं है। प्रजापति के अनिर्वचनीय होने से उसके लिए नपुं० 'किम्' शब्द का प्रयोग उचित ही है। 'एकं सत्', 'तत् एकम्' आदि प्रयोग भी इस तथ्य के पोषक हैं। अपने 'वैदिक एटिमालाजी' ग्रन्थ में डॉ० फतेहसिंह ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है।

दूसरी बात यह भी है कि अनेक वैदिक प्रयोग लौकिक व्याकरण की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते, जिनके लिए प्रायः 'बहुलं छन्दसि', 'विभाषा छन्दसि', 'व्यत्ययो बहुलम्' आदि विकल्प वाक्यों से उक्त प्रयोगों का औचित्य प्रतिष्ठापित किया जाता है। 'कस्मै' के प्रयोग को भी उसी रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

तीसरी बात यह भी दर्शनीय है कि प्रस्तुत सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के प्रथम तीन पादों में तो स्पष्टतः प्रजापति के गुणादिक का वर्णन है, फिर चौथे चरण में प्रयुक्त 'कस्मै' का सम्बन्ध उस प्रजापति से न करके किसी अन्य से जोड़ने में कौन-सी बुद्धिमानी है। इसलिए निस्सन्देह 'कस्मै' का प्रयोग प्रजापति के लिये ही हुआ है।

९. **हविषा**—सा०—(क)-प्राजापत्य पशु के वपा (= चर्बी) के एक कपाल से। (ख)-पुरोडाश नामक हविसामग्री से। उव्वट० और मही०—हवि से। दया०—(क)—आत्मा आदि सामग्री से (दे०—यजु० १३।४) (ख)—आत्मा आदि के प्रदान से (दे०—यजु० २३।१) (ग)—हवन-योग्य वस्तुओं से (दे०—यजु० २५।१०)। पीट०—आहुति से। इसका अर्थ 'प्रेम से' भी किया जा सकता है। दे०—सप्र०—८।१३४।

१०. **विधेम**—√विध् (= परिचर्या करना, उपासना करना)+ विधिलिङ्, उत्तम पु०, बहुव०।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

पदपाठ—यः। आत्मऽदाः। बलऽदाः। यस्य। विश्वे। उपऽआसते। प्रऽशिषम्। यस्य। देवाः। यस्य। छाया। अमृतम्। यस्य। मृत्युः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥ २ ॥

सायणभाष्यम्—यः प्रजापतिः आत्मदाः आत्मनां दाता। आत्मानो हि सर्वे तस्मात् परमात्मन उत्पद्यन्ते। यथाग्नेः सकाशाद् विस्फुलिङ्गा जायन्ते तद्वत्। यद्वा—आत्मनां शोधयिता। 'दैप् शोधने', 'आतो मनिन्'० (पा० ३।२।७४) इति विच्। बलदाः बलस्य च दाता शोधयिता वा। यस्य च प्रशिषं प्रकृष्टं शासनमाज्ञां विश्वे प्राणिनः उपासते प्रार्थयन्ते सेवन्ते वा। 'शासु अनुशिष्टौ', 'शास इत्०' (पा० ६।४।३४) इत्युपधाया इत्वम्। 'शासिवसिघसीनां च' (पा० ८।३।६०) इति षत्वम्। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् (पा० ६।२।१३९)। आसेरनुदात्तेत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। 'तिङि चोदात्तवति' (पा० ८।१।७१) इति गतिरनुदात्ता। तथा देवाः अपि यस्य प्रशासनमुपासते।

अपि च अमृतम् अमृतत्वम्। भावप्रधानो निर्देशः। यद्वा—अमृतम् [मृतम् ?] मरणं नास्तीत्यस्मिन्नित्यमृतं सुधा। बहुव्रीहौ 'नञो जरमरमित्रमृताः' (पा० ६।२।११६) इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। तदपि यस्य प्रजापतेः

छाया छायेव वर्ति भवति। मृत्युः यमश्च प्राणापहारी छायेव भवति। तस्मै कस्मै देवाय इत्यादि समानं पूर्वेण हविषा पुरोडाशात्मनेति तु विशेषः ॥ २ ॥

हिन्दी—जो [यः] आत्माओं का देने वाला [आत्मदाः] (तथा) बल प्रदान करने वाला है [बलदाः]; जिसके [यस्य] शासन की [प्रशिषम्] सभी (जीवधारी और जड़-पदार्थ) उपासना करते हैं (अर्थात् उसे मानते हैं) [उपासते] (तथा) जिसके (शासन को) [यस्य (प्रशिषम्)] (सभी) देवता [देवाः] (मानते हैं); जिसकी छाया (अर्थात् जिसका आश्रय) [यस्य छाया] अमृत है (अर्थात् जीव को अमर बना देता है) [अमृतम्] (तथा) जिसकी छाया (अर्थात् जिसका विरोध अथवा अपूजन) [यस्य (छाया)] मृत्यु है (अर्थात् मृत्यु का कारण है) [मृत्युः],— (उसे छोड़कर हम) किस (अन्य) [कस्मै] देवता के लिए [देवाय] हव्य सामग्री से [हविषा] (हवन आदि का) विधान करें [विधेम]? ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१. आत्मदाः—सा०—(क)-(चूँकि आत्माओं का प्रादुर्भाव परमात्मा से ही होता है, इसलिए) आत्माओं का दाता। (ख)-आत्माओं को शुद्ध बनाने वाला। आत्मन् + √दा (= देना) अथवा दैप् (= शुद्ध करना) + विच् प्रत्यय। उव्वट और मही०—(उपासकों को) सायुज्य[1] प्रदान करने वाला। दया०—(क)-आत्म-ज्ञान देने वाला। (ख)-आत्मा का देने वाला अर्थात् प्राण-दाता। (ग)-विज्ञान (= आत्मा का ज्ञान अथवा सत्य का ज्ञान) प्रदान करने वाला। पीट०-श्वास प्रदान करने वाला।

सुधीरकुमार गुप्त ने 'आत्मदाः' का अर्थ 'गति प्रदान करने वाला' मानने का सुझाव रक्खा है, जो असङ्गत कदापि नहीं प्रतीत होता। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इस कठो० की मान्यता के आधार पर आत्मा का जन्म विश्वसनीय नहीं लगता। सृष्टि के पूर्व ईश्वर, प्रकृति और जीवादिक अपनी मूल दशा में स्थित रहते हैं। सृष्टि के समय ईश्वर, प्रकृति और जीव (= आत्मा) में गति उत्पन्न करता है, जिससे जीवधारियों का सृजन होता है। 'आत्मा' शब्द की निष्पत्ति गत्यर्थक √अत धातु से होती भी है—अतति सततं गच्छति व्याप्नोति वा स आत्मा। इसलिए आत्मा को गति दिये जाने की ही बात अधिक सङ्गत लगती है। फिर का० सं० ४०।३ और मै० सं० २।१३।११२ में 'आत्मदाः' के स्थान पर 'ओजोदाः' पाठ उपलब्ध भी होता है। इस प्रकार वहाँ गति-प्रधान 'ओजस्' को आत्मा का पर्याय माना गया है।

---

१. सायुज्य=मुक्ति की चार अवस्थाओं में से एक।

२. **बलदाः**—सा०-(क)-बल को देने वाला। (ख)-बल को शुद्ध करने वाला। उव्वट और मही०—सामर्थ्य प्रदान करने वाला अर्थात् भुक्ति-मुक्ति का दाता। दया०—(क)-शरीर, हृदय, प्राण, आत्मा और मन को पोषण, उत्साह, पराक्रम और दृढ़ता प्रदान करने वाला। (ख)-(शरीर, आत्मा या समाज को) बल प्रदान करने वाला। (ग)-त्रिविध बल[1] प्रदान करने वाला। पीट०-शक्ति प्रदान करने वाला।

३. **यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः**—सा०-जिसके (=यस्य) प्रकृष्ट शासन (अर्थात् आज्ञा) को (= प्रशिषम्) सम्पूर्ण प्राणी (= विश्वे) उसकी प्रार्थना अथवा सेवा के भाव से मानते हैं (= उपासते) तथा जिसकी आज्ञा को (= यस्य [प्रशिषम्]) देवगण भी (= देवाः) मानते हैं (उपासते)। उव्वट और मही० ने 'विश्वे' का अर्थ 'सभी मनुष्य' किया है, शेष सा० के समान। दया०—जिसकी उत्तम शिक्षा का (= यस्य प्रशिषम्) समस्त विद्वान् लोग (= विश्वे) सेवन करते हैं (= उपासते) और जिसके समीप से (= यस्य) सब व्यवहार (= विश्वे देवाः) उत्पन्न होते हैं (= उपासते) [दे०-यजु० २५।१३]। प्रशिषम् = प्र √शास् + क्विप् प्रत्यय। 'शास इत्' (पा० ६।४।३४) से शास् की उपधा को इत आदेश होकर 'शिस्' बना। अब 'शासिवसिघसीनां च' (पा० ८।३।६०) से षत्व होकर 'शिष्' बना। इसमें 'प्र' उपसर्ग और क्विप् प्रत्यय लगने पर 'प्रशिषम्' रूप द्वितीया एक व० में बनता है।

४. **यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः**—सा०—अमरता अथवा सुधा (= अमृतम्) जिस प्रजापति की (= यस्य) छाया के समान अवस्थित है (= छाया), और मृत्यु अर्थात् प्राणापहारी यमराज भी (= मृत्युः) जिसकी (= यस्य) छाया के समान है। सा० और मही०—जिसका आश्रय अथवा ज्ञानपूर्वक उपासना-कर्म (= यस्य च्छाया) मुक्ति का हेतु है (= अमृतम्), जिसका [अज्ञान] (= यस्य) संसार का हेतु अर्थात् आवागमन का कारण है (= मृत्युः)। दया०-जिसका आश्रय (= यस्य च्छाया) मोक्ष-सुखदायक है (= अमृतम्) तथा जिसका न मानना अर्थात् जिसकी भक्ति न करना (= यस्य) मृत्यु आदि दुःखों का कारण है···(··· = मृत्युः)। लगभग यही बात उन्होंने यजु० २५।१३ और ऋ० भा० भू० ९ में भी कही है। पीट०—जिसकी छाया (= यस्य च्छाया) अमरत्व है (= अमृतम्) तथा मृत्यु भी (= मृत्युः) जिसकी अपनी है (= यस्य)।

---

१. त्रिविध-बल = मानस-बल, इन्द्रिय-बल और शरीर-बल।

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

पदपाठ—यः । प्राणतः । निऽमिषतः । महिऽत्वा । एकः । इत् । राजा । जगतः । बभूव । यः । ईशे । अस्य । द्विऽपदः । चतुःऽपदः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ३ ॥

सायणभाष्यम्—यः हिरण्यगर्भः प्राणतः प्रश्वसतः। 'अन प्राणने' आदादिकः। 'शतुरनुमः' (पा० ६।१।१७३) इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। निमिषतः। अक्षिपक्ष्मचलनं कुर्वतः। अत्रापि पूर्ववद् विभक्तिरुदात्ता। जगतः जङ्गमस्य प्राणिजातस्य महित्वा महत्त्वेन। 'सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) इति तृतीयाया आकारः। माहात्म्येन। एक इत् अद्वितीय एव सन् राजा बभूव ईश्वरो भवति। भवतेर्णलि 'लिति' (पा० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्।

अस्य परिदृश्यमानस्य द्विपदः पादद्वययुक्तस्य मनुष्यादेः चतुष्पदो गवाश्वादेश्च यः प्रजापतिः ईशे ईष्टे। 'ईश ऐश्वर्ये' आदादिकोऽनुदात्तेत्। 'लोपस्त आत्मने पदेषु' (पा० ७।१।४१) इति तलोपः। अनुदात्तेत्वाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः (पा० ६।१।१८६)। अस्य। 'अडिदम्' (पा० ६।१।१७१) इतीदमो विभक्तिरुदात्ता। द्वौ पादौ यस्य स द्विपात्। 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' (पा० ५।४।१४०) इति पादशब्दस्यान्त्यलोपः समासान्तः। भसञ्ज्ञायां 'पादः पत्' (पा० ६।४।१३०) इति पद्भावः। 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्……' (पा० ६।२।१९७) इत्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वादुत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। स्वरवर्जमेषैव चतुष्पद इत्यत्रापि प्रक्रिया। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या…' (पा० ६।२।१) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। पूर्वपदस्य च 'त्रः सङ्ख्यायाः' (फि० सू० २५) इत्याद्युदात्तत्वम्। 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' (पा० ८।३।४१) इति विसर्जनीयस्य षत्वम्। ईदृशो यः प्रजापतिस्तस्मै कस्मा इत्यादि सुबोधम्। हविषा हृदयाद्यात्मनेत्ययमत्र विशेषः ॥ ३ ॥

हिन्दी—जो [यः] (अपनी) महिमा के कारण [महित्वा], प्राण-धारण करने वाले [प्राणतः] (और) पलक झपकाने वाले [निमिषतः] चेतन-जगत् का [जगतः] एकमात्र [एक इत] राजा [राजा] हो गया [बभूव]; जो [यः] दो पैर वाले (मनुष्यादि) [द्विपदः] (तथा) चार पैर वाले (गो-अश्वादि) [चतुष्पदः] इस (जगत्) का [अस्य] स्वामी है [ईशे],—(उसे छोड़ कर हम) किस (अन्य) [कस्मै] देवता के लिए [देवाय] हव्य सामग्री से [हविषा] (हवन आदि का) विधान करें [विधेम]? ॥ ३ ॥

टिप्पणियाँ—१. प्राणतो निमिषतो जगतः—सा०–श्वास लेने वाले और आँख की पलक झपकाने वाले जङ्गम जगत् अर्थात् प्राणि-मात्र का। उव्वट–प्राणन और निमेषण करने वाले अर्थात् क्रियावान् प्राणिसमुदाय का। मही०–जीवन और निमेषण करने वाले अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रिय-व्यापार करने वाले सचेतन जगत् का। दया०—श्वास लेते हुए प्राणी और चेष्टा करते हुए संसार का (दे०–यजु० २५।११)। किन्तु यजु० २३।३ में उन्होंने 'प्राणतः निमिषतः द्विपदः चतुष्पदः जगतः'—यह योजना प्रस्तुत की है। पीट०—श्वास लेने वाले [= प्राणतः], सोने वाले [= निमिषतः] और गति करने वाले [= जगतः] का।

प्राणतः = प्र + √अन् (= प्राण धारण करना) + शतृ, षष्ठी, एक व०।

निमिषतः—नि + √मिष् (= स्पर्धा करना, स्फुरित होना) + शतृ, षष्ठी, एक व०।

२. **महित्वा**—महित्वन् शब्द का तृतीया एक व० का वैदिक रूप। लोक में इसका 'महत्त्वेन' बनता है।

३. **ईशे**—√ईश् (= शासन करना) + लट्, अन्य पु०, एक व० = 'ईष्टे' का वैदिक रूप।

४. **हविषा**—सा०—हृदयादि रूपी हवि से।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥

पदपाठ—यस्य। इमे। हिमऽवन्तः। महिऽत्वा। यस्य। समुद्रम्।
रसया। सह। आहुः। यस्य। इमाः। प्रऽदिशः।
यस्य। बाहू इति। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम॥

सायणभाष्यम्—हिमा अस्मिन् सन्तीति हिमवान्। तेन बहुवचनान्तेन सर्वे पर्वता लक्ष्यन्ते यथा छत्रिणो गच्छन्तीति। हिमवतः हिमवदुपलक्षिता इमे दृश्यमानाः सर्वे पर्वता यस्य प्रजापतेर्महित्वा महत्त्वं माहात्म्यमैश्वर्यमिति आहुः। तेन सृष्टत्वात्तद्रूपेणावस्थानाद्वा। तथा रसया। रसो जलम्। तद्वती रसा नदी। अर्शआदित्वादच् (पा० ५।२।१२७)। जातावेकवचनम्। रसाभिर्नदीभिः सह समुद्रम्। पूर्ववदेकवचनम्। सर्वान् समुद्रान् यस्य महाभाग्यमित्याहुः कथयन्ति सृष्टयभिज्ञाः। यस्य चेमाः प्रदिशः प्राच्यारम्भा आग्नेय्याद्याः कोणदिश ईशितव्याः। तथा बाहू। वचनव्यत्ययः। बाहवो भुजाः। भुजवत् प्राधान्ययुक्ताः प्रदिशश्च यस्य स्वभूताः। तस्मै कस्मा इत्यादि समानं पूर्वेण॥ ४॥

हिन्दी—ये [इमे] पर्वत [हिमवन्तः] जिसकी [यस्य] महिमा [महित्वा] हैं; नदियों के साथ [रसया सह] समुद्रों को [समुद्रम्] जिसकी (महिमा) [यस्य] कहा गया है [आहुः]; ये [इमाः] (पूर्व आदि) मुख्य दिशायें [प्रदिशः] जिसकी (महिमा हैं) [यस्य]; जिसकी [यस्य] भुजायें [बाहू] (लम्बी-लम्बी अथवा जगत् की रक्षिका) हैं,—(उसे छोड़ कर हम) किस (अन्य) [कस्मै] देवता के लिए [देवाय] हव्य सामग्री से [हविषा] (हवन आदि का) विधान करें [विधेम] ? ॥ ४ ॥

टिप्पणियाँ—१. **यस्येमे हिमवन्तो ..... यस्य बाहू**—इसके अन्वय और तदनुसार अर्थ करने में भाष्यकार एकमत नहीं हैं—**सा०**—ये दृश्यमान सभी पर्वत जिस प्रजापति का महत्त्व कहे गये हैं (उसके द्वारा निर्मित होने अथवा उसके रूप में स्थित रहने के कारण), नदियों के साथ-साथ सभी समुद्रों को सृष्टि-विज्ञजन जिस प्रजापति का माहात्म्य कहते हैं, जो आग्नेय आदि कोण-दिशाओं का शासक है तथा भुजाओं के समान प्राधान्ययुक्त प्रकृष्ट दिशायें जिसकी अपनी हैं।

उव्वट और मही०—हिमाचल आदि इन सभी पर्वतों को जिस प्रजापति की महिमा कहा है, बुद्धिमान् जनों ने; नदी के साथ-साथ समुद्र को जिसकी महिमा कहा गया है; पूर्व आदि ये सभी प्रकृष्ट दिशायें जिसकी महिमा कही गयी हैं; जिसकी भुजायें जगत्-रक्षिका हैं (अर्थात् सम्पूर्ण जगत् जिस प्रजापति की विभूति है)।

दया०—जिस (सूर्य) के बड़प्पन से हिमवत् आदि पर्वत आकर्षित और प्रकाशित होते हैं; अन्तरिक्ष को [= समुद्रं] जिसके स्नेह से युक्त [= यस्य रसया सह] कहते हैं [= आहुः]; तथा जिसकी इन दिशाओं और इन विदिशाओं को भुजाओं के समान वर्तमान कहते हैं।

पीट०—बरफीली चोटियाँ [= हिमवन्तः] उसकी हैं; वे कहते हैं कि नदी के साथ समुद्र भी [रसया सह समुद्रम्] उसके हैं; अन्तरिक्ष के प्रदेश [= प्रदिशः] उसके हैं और दो भुजायें उसकी ही हैं।

२. **हिमवन्तः**—हिम + मतुप् प्रत्यय, प्रथमा वि०, बहु व०। हिमं अस्ति येषु, ते। उव्वट और मही० यहाँ द्वितीया के अर्थ में प्रथमा मानते हैं ('सुपां सुपो भवन्ति' इति वचनात्)।

३. **महित्वा**—सा०, मही० और उव्वट इसे द्वितीया, एक व० का रूप मानते हैं। वैसे यहाँ तृतीया मानना ही उचित है। सा० ने भी अन्यत्र इसे तृतीयान्त माना है। दे०-मंत्र २ की टि० २।

४. **समुद्रम्**—सा०, उव्वट और मही०—समुद्र (जातौ एक वचनम्)। दया० और पीट०—अन्तरिक्ष। डॉ० सुधीरकुमार गुप्त इसका 'बढ़े हुये यश को' अर्थ करके इसे 'आहुः' का कर्म मानते हैं। इस प्रकार विभक्ति और लिङ्ग के व्यत्यय का परिहार हो जाता है।

५. **रसया**—सा०, उव्वट और मही०—नदियों (के साथ) तृतीया वि०। जातौ एकवचनम्। दया०—स्नेह (के साथ)। पी०—एक दूरस्थ नदी।

६. **प्रदिशः**—सा०—आग्नेय आदि कोण दिशाएँ। उव्वट और मही०—पूर्व आदि प्रकृष्ट दिशाएँ। दया०—दिशाओं और विदिशाओं को। पीट०—अन्तरिक्ष के प्रदेश।

सायणीय भाष्य को क्लेशकारक और समस्योत्पादक मानते हुए पीट० ने उक्त भाष्यगत 'प्राच्यारम्भाः' के स्थान पर 'प्रारम्भाः' और 'प्रदिशश्च' के स्थान पर 'दिशश्च' पाठों की कल्पना की है। इसी प्रकार मैक्स० भी सायणीय पाठ के स्थान पर 'प्राच्यारम्भा आग्नेयाद्याः कोणदिश ईशानान्ता वा' स्वीकार किये जाने का आग्रह करते हैं। किन्तु यह सब सायणीय भाष्य के निहित अर्थ को अन्यथा समझ बैठने के कारण हुआ है। सा० के अनुसार 'यस्य च इमाः प्रदिशः' का अर्थ 'प्राची दिशा से प्रारम्भ होने वाली आग्नेय आदि कोण-दिशायें जिसके शासन में हैं' तथा 'यस्य बाहू' का अर्थ 'भुजाओं के सदृश प्रधान दिशायें जिसकी अपनी हैं' है। इस सीधे-सादे अर्थ में दिशाओं और विदिशाओं का झमेला खड़ा करना न्यायोचित नहीं है। फिर भी हमने अपने हिन्दी-अनुवाद में उव्वट और महीधर का आश्रय लेकर उपर्युक्त समस्या के परिहार का प्रयास किया है।

७. **बाहू**—इसकी निष्पत्ति √वह् (= धारण करना) से होती है। इसलिए 'वहति इति बाहुः'। यह धारण क्रिया दो प्रकार से होती है—पोषण से और संहार से। सम्भवतः इसीलिए यहाँ द्विवचनान्त 'बाहू' का प्रयोग हुआ है।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

पदपाठ—येन। द्यौः। उग्रा। पृथिवी। च। दृळ्हा। येन। स्वरिति स्वः। स्तभितम्। येन। नाकः। यः। अन्तरिक्षे। रजसः। विऽमानः। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम्—येन प्रजापतिना द्यौः अन्तरिक्षम् उग्रा उद्गूर्णविशेषा गहनरूपा वा पृथिवी भूमिः च दृळ्हा येन स्थिरीकृता। स्वः स्वर्गश्च येन स्तभितं स्तब्धं कृतम्। यथाधो न पतति तथोपर्यवस्थापितमित्यर्थः। 'ग्रसितस्कभितस्तभित…' (पा० ७।२।३४) इति निपात्यते। तथा नाकः आदित्यश्च येनान्तरिक्षे स्तभितः। यः च अन्तरिक्षे रजस उदकस्य विमानः निर्माता। तस्मै कस्मा इत्यादि गतम् ॥ ५ ॥

हिन्दी—जिसने [येन] द्यु-लोक को [द्यौः] और [च] उठी हुई [उग्रा] पृथ्वी को [पृथिवी] दृढ़ बनाया है [दृळ्हा], जिसने [येन] स्वर्लोक को [स्वः] (तथा) जिसने [येन] नाक-लोक को [नाकः] स्तब्ध बना दिया है [स्तभितम्], जो [यः] अन्तरिक्ष में [अन्तरिक्षे] (अन्य गतिशील) लोकों का [रजसः] बनाने वाला है [विमानः],—(उसे छोड़ कर हम) किस (अन्य) [कस्मै] देवता के लिए [देवाय] हव्य सामग्री से [हविषा] (हवन आदि का) विधान करें [विधेम] ? ॥ ५ ॥

टिप्पणियाँ—१. **येन**—सा०—जिस प्रजापति के द्वारा। उव्वट और मही०—जिस पुरुष के द्वारा।

२. **उग्रा**—सा० ने इसे 'पृथिवी' का विशे० मान कर इसका 'उद्गूर्ण विशेष' (= उठी हुई) अथवा 'गहन स्वरूप वाली' अर्थ किया है। उव्वट और मही० इसे 'द्यौः' का विधेयांश मान कर—(जिसके द्वारा द्यु-लोक) वृष्टि-प्रदायक बना दिया गया है (= उग्रा, कृता इति शेषः)—यह अर्थ करते हैं। दया० और पीट० इसे 'द्यौः' का विशे० मानते हैं। दया० के अनुसार—'उग्रा द्यौः' = तीव्र प्रकाश से युक्त (= उग्रा) सूर्य आदि प्रकाशवान् पदार्थ (= द्यौः)। पीट० के अनुसार—'उग्रा द्यौः' = महान् (= उग्रा) आकाश (= द्यौः)। 'उग्रा' को पृथिवी का विशे० मान कर उसका 'उठी हुई' अर्थ करना हमें इसलिए मान्य है कि अनेक धर्मों में पृथ्वी के रसातल से उद्धरण की पुराण-कथाएँ प्रचलित हैं।

३. **द्यौः**—सा०—अन्तरिक्ष-लोक। उव्वट और मही०—द्युलोक। दया०—सूर्य आदि प्रकाशवान् पदार्थ। पीट०—आकाश।

४. **पृथिवी च दृळ्हा**—जिसके द्वारा पृथ्वी स्थिर बना दी गई है। तुल०—'यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्' (ऋग्० २।१२।२)। उव्वट और मही० के अनुसार 'सभी प्राणियों को धारण करना, वृष्टि-ग्रहण और अन्न-निष्पादन' ही पृथ्वी की स्थिरता अथवा दृढता है।

५. **स्वः**—सा०—स्वर्ग। उव्वट और मही०—आदित्यमण्डल। दया०—

सुख। पीट०—'स्वः नाकः' का एक साथ अर्थ 'आकाश का विस्तृत प्रदेश'। किन्तु 'येन' के द्विधा प्रयोग से 'स्वः' और 'नाकः' दो पृथक् लोक अभीष्ट हैं। पीट० सम्मत एक ही लोक की धारणा असङ्गत है।

६. **स्तभितम्**—सा० उव्वट और मही०—स्तब्ध बनाया है। दया०—धारण किया हुआ है। पीट०—जमाया है।

७. **नाकः**—सा०—आदित्य। उव्वट और मही०—स्वर्गलोक। दया०—मोक्ष (जो सब दुःखों से रहित है)। पीट०—दे० 'स्वः' पर टिप्पणी।

'नाक' का अर्थ 'स्वर्ग' होता है, जिसकी प्राप्ति मोक्ष-लाभ के साथ होती है। इस प्रकार दया० स्वयं उव्वट और मही० से भिन्न मत वाले नहीं हैं। 'न अकति न गच्छति इति नाकः' इस व्युत्पत्ति से अपने स्थान पर बना रहने वाला सूर्य भी 'नाकः' पद से ग्रहणीय हो सकता है, किन्तु 'स्थिर' के पुनः 'स्थिरीकरण' की बात बाधक बनती है। अपनी धुरी पर जो वह घूमता है, उसके स्थिर बना दिये जाने की मान्यता अनर्थमूलक हो जायगी।

८. **अन्तरिक्षे रजसो विमानः**—सा०—(जो) अन्तरिक्ष में जल का (= रजसः) निर्माता है (= विमानः)। उव्वट और मही० 'रजसः' का अर्थ 'वृष्टि-जल' करते हैं, शेष सायण-वत्। दया०—(जो) मध्यवर्ती आकाश में (= अन्तरिक्षे) स्थित लोकों का (= रजसः) विविध मान करने वाला अर्थात् नाप-जोख करने वाला है (= विमानः)। दे०—यजु० ३२।६ पर दया० का भाष्य। पीट०—(जो) मध्य आकाश को नापने वाला है। हमें दया० का अर्थ ही सबसे अच्छा लगता है, क्योंकि विविध लोक शून्य में अयन गति किया करते हैं और सूर्य उनका नियामक है।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

पदपाठ—यम्। क्रन्दसी इति। अवसा। तस्तभाने इति। अभि। ऐक्षेताम्। मनसा। रेजमाने इति। यत्र। अधि। सूरः। उतऽइतः। विऽभाति। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥ ६ ॥

सायणभाष्यम्—क्रन्दितवान् रोदितवाननयोः प्रजापतिरिति क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ। श्रूयते हि—'यदरोदीत्तदनयो रोदस्त्वम्' (तै० २।२।९।४) इति। ते अवसा रक्षणेन हेतुना लोकस्य रक्षणार्थं तस्तभाने प्रजापतिना सृष्टे लब्धस्थैर्ये सत्यौ यं प्रजापतिं मनसा बुद्ध्याभ्यैक्षेताम् आवयोर्महत्त्वमनेन इत्य-

भ्यपश्येताम् । 'ईच दर्शने ।' लङ्यडादित्वादाद्युदात्तत्वम् । कीदृश्यौ द्यावा-पृथिव्यौ । रेजमाने राजमाने दीप्यमाने । आकारस्य व्यत्ययेनैत्वम् । अदुप-देशाल्लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः । यद्वा लिटः कानच् । 'फणां च सप्तानाम्' (पा० ६।४।१२५) इत्येत्वाभ्यासलोपौ । 'छन्दस्युभयथा' (पा० ३।४।११७) इति सार्वधातुकत्वाच्छप् । [अतएव] 'अभ्यस्तानामादिः' (पा० ६।१।१८९) इत्याद्युदात्तत्वम् । यत्राधि यस्मिन्नाधारभूते प्रजापतौ सूरः उदितः उदयं प्राप्तः सन् विभाति प्रकाशते । उत्पूर्वादेतेः कर्मणि निष्ठा । 'गतिरनन्तरः' (पा० ६।२।४९) इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् । तस्मै कस्मा इत्यादि सुज्ञानम् ॥ ६ ॥

हिन्दी—(अपने) रक्षा-कर्म के द्वारा [अवसा] स्थिर बनाये गये [तस्तभाने] द्यु-लोक और पृथ्वी-लोक [क्रन्दसी] मन ही मन [मनसा] काँपते हुए [रेजमाने] जिस (प्रजापति) की ओर [यम्] देखा करते हैं [अभ्यैक्षेताम्], जिसे आधार बना कर [यत्र अधि] सूर्य [सूरः] उदित होकर [उदितः] प्रकाशित होता है [विभाति],—(उसे छोड़कर हम) किस (अन्य) [कस्मै] देवता के लिए [देवाय] हव्य सामग्री से [हविषा] (हवन आदि का) विधान करें [विधेम] ? ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ—१. क्रन्दसी—सा०-द्यु-लोक और पृथ्वी-लोक, जहाँ कि प्रजापति ने क्रन्दन (= रोदन) किया था। उव्वट और मही०-वही। दया०-प्रशंसनीय सूर्य-लोक और पृथ्वी-लोक। पीट० और मैक्स० 'क्रन्दसी' के स्थान पर 'रोदसी' पाठ स्वीकार किये जाने का आग्रह करते हैं, जो कि कई दृष्टियों से उचित नहीं है। 'रोदसी' द्यावापृथिवी का वाचक है। 'क्रन्दसी' रोदसी का विशेषण भी है और पर्याय भी। इसलिये 'क्रन्दसी' पाठ ही ठीक है।

प्रजापति का सायण-संकेतित 'क्रन्दन' पर्जन्य का गर्जन भी हो सकता है और द्यावा-पृथिवी के सृजनकाल में समुत्पन्न सुमहान् शब्द भी—सूर्य के अनेक टुकड़ों के टूट कर अलग होने से विभिन्न ग्रहों की सृष्टि लोक-विश्रुत है ही।

२. अवसा--सा०-लोक-रक्षा के लिए। प्रजापति ने लोक-रक्षा के लिए ही द्यावा-पृथिवी की सृष्टि की अथवा उन्हें स्थिर बनाया। उव्वट और मही०-हवि रूपी अन्न से, जो कि वृष्टि आदि उपकारों के बदले देवों को समर्पित किया जाता है। द्यावा और पृथिवी उसी प्राणि-भोग्य अन्न से सभी प्राणियों का स्तम्भन करते हैं। दया०-रक्षा आदि कर्मों से। हमें यही अर्थ मान्य है, क्योंकि यदि प्रजापति अपनी शक्ति से उक्त लोकों को अपनी-अपनी सीमा में बाँध कर उनकी गति को स्थिर और सुनियत न बनाता, तो उनका परस्पर टकराकर विनष्ट हो जाना अवश्यम्भावी था।

३. **तस्तभाने**—√स्तम्भ् (= स्तब्ध करना, स्थिर बनाना) + कानच् प्रत्यय, स्त्रीलिंग, प्रथमा वि०, द्वि व० । सा०-(प्रजापति के द्वारा) निर्मित अथवा स्थिरीकृत । उव्वट और मही०-(सभी प्राणियों का) स्तम्भन करते हुए । दया०-सभी को धारण करने वाले ।

४. **अभ्यैक्षेताम्**—अभि + ऐक्षेताम् । सा०-देखते हैं । द्यावा और पृथिवी अपनी बुद्धि से (= मनसा) प्रजापति की ओर इस भाव से देखते हैं कि हमारा महत्त्व इस प्रजापति के कारण ही है । सा० की ही भाँति उव्वट और मही० भी इसे 'मनसा' से सम्बद्ध करते हैं । उनके अनुसार—(इसने ठीक ही किया है, इस भाव से प्रजापति की ओर) देखते हैं । दया०-(प्रजापति को कर्ता के रूप में) देखते हैं अर्थात् उसके कर्तृत्व का आख्यान करते हैं ।

५. **मनसा**—सा०, उव्वट, मही० और दया० सभी 'मनसा' को 'अभ्यैक्षेताम्' से सम्बद्ध करते हैं, किन्तु औचित्य इसी में है कि इसे 'रेजमाने' के साथ जोड़ा जाय, जिस प्रकार 'अवसा' को 'तस्तभाने' से सम्बद्ध किया गया है । सा०-बुद्धि से । उव्वट और मही०-मन से । दया०-विज्ञान से ।

६. **रेजमाने**—'क्रन्दसी' का विशे० । सा०-राजमान, दीप्यमान । उव्वट-कम्पमान । मही०-शोभमान । दया०-गतिमान्, भ्रममाण । यहाँ उव्वट-सम्मत अर्थ ही सर्वाधिक सुसङ्गत है । वैदिक √रेज् धातु का अनेकधा कम्पन अर्थ में प्रयोग हुआ है । यहाँ 'मनसा रेजमाने' का अर्थ यह है कि द्यावा और पृथिवी के प्राणी मन ही मन प्रजापति से डरते भी हैं, क्योंकि वह अतुल शक्ति और सामर्थ्य का पुञ्ज है । यह भी ध्यातव्य है कि भय से ही श्रद्धा उत्पन्न होती है । 'भय बिनु होय न प्रीति' ।

७. **यत्र अधि**—सा०-जिस आधारभूत प्रजापति में । उव्वट-जिसके ऊपर स्थित होकर अर्थात् जिसे आधार बना कर । मही०-'यत्र' का अर्थ 'जहाँ पर अर्थात् द्यावा-पृथिवी पर' करके 'अधि' को 'विभाति' के साथ जोड़ते हैं । उनका आशय यह है कि सूर्य द्यु-लोक और पृथ्वी-लोक में उदित होकर प्रकाशित होता और प्रकाशित करता है । दया०-जिस परमेश्वर में (= यत्र) अधिकतर (= अधि) [प्रकाशित होता है] ।

भाव यह है कि दृश्यमान सूर्य प्रजापति की शक्ति से ही प्रकाशित होता है ।

आपो॑ ह॒ यद्बृ॑ह॒तीर्विश्व॒माय॒न् गर्भं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर॒ग्निम् ।
ततो॑ दे॒वानां॒ सम॑वर्त॒तासु॒रेकः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥७॥

पदपाठ—आपः । ह । यत् । बृहतीः । विश्वम् । आयन् । गर्भम् । दधाना । जनयन्तीः । अग्निम् । ततः । देवानाम् । सम् । अवर्तत । असुः । एकः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम्—बृहतीर्बृहत्यः महत्यः । जसि 'वा छन्दसि' (पा० ६।१।१०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः । 'बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' (पा० ६।१।१५३–वा०) इति ङीप् उदात्तत्वम् । अग्निम् । उपलक्षणमेतत् । अग्न्युपलक्षितं सर्वं वियदादि भूतजातं जनयन्तीर्जनयन्त्यस्तदर्थं गर्भं हिरण्मयाण्डस्य गर्भभूतं प्रजापतिं दधानाः धारयन्त्य आपो ह आप एव विश्वमायन् सर्व-जगद् व्याप्नुवन् । यद् यस्मात् ततस्तस्माद्धेतोर्देवानां देवादीनां सर्वेषां-प्राणिनामसुः प्राणभूतः एकः प्रजापतिः समवर्तत समजायत । यद्वा—यद् यं गर्भं दधाना आपो विश्वात्मनावस्थितास्ततो गर्भभूतात् प्रजापतेर्देवादीनां प्राणात्मको वायुरजायत । अथवा—यत् । लिङ्गवचनयोर्व्यत्ययः । उक्त लक्षणा या आपो विश्वमावृत्य स्थिताः ततस्ताभ्योऽद्भ्यः सकाशादेकोऽद्वितीयोऽसुः प्राणात्मकः प्रजापतिः समवर्तत निश्चक्राम । तस्मै कस्मा इत्यादि गतम् ॥ ७ ॥

हिन्दी—यह बात प्रसिद्ध है कि [ह] जब [यद्] गर्भ-धारण करती हुई [गर्भं दधाना] (और फिर) अग्नि को [अग्निम्] उत्पन्न करती हुई [जनयन्तीः] विशाल [बृहतीः] जल-राशि ने [आपः] (सम्पूर्ण) सृष्टि को [विश्वम्] व्याप्त कर लिया [आयन्], तब [ततः] दिव्य गुण वाले प्राणियों का [देवानाम्] एकमात्र [एकः] प्राणभूत (प्रजापति) [असुः] उत्पन्न हुआ था [समवर्तत],—(उसे छोड़ कर हम) किस (अन्य) [कस्मै] देवता के लिए [देवाय] हव्य सामग्री से [हविषा] (हवन आदि का) विधान करें [विधेम] ? ॥ ७ ॥

टिप्पणियाँ—१. आपः—प्रलय की अवस्था में सभी ओर जल ही जल की विद्यमानता पुराण-प्रसिद्ध है । ऋग्० १०।१२९।३ में भी यही बात कही गई है—'तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्' । जब ईश्वर रूप प्रजापति ने सृष्टि की कामना की, तो वह कामना ही सृष्टि का प्रथम बीज (= रेतस्) बनी । उससे गति और गति से अग्नि (= उष्णता) उत्पन्न हुई । इस उष्णता से ही सृष्टि की उत्पत्ति का प्रारम्भ हुआ । यही बात प्रस्तुत मन्त्र में वर्णित है ।

२. यद्—सा०-(क)-चूँकि (ख)-जिस (प्रजापति) को (गर्भरूपेण धारण करती हुई) (ग)-जिस (जल राशि) ने । यहाँ लिङ्ग और वचन का

व्यत्यय प्राप्त है। उव्वट—जब। मही०—जब पुरातन काल में। दया०—जिस (विश्व) में। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' (ऋ० १०।१२१।१) में प्रयुक्त 'अग्रे' की ही भाँति यहाँ भी 'यद्' सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक है।

३. **विश्वमायन्**—विश्वम् + आयन्। सा०—सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर लिया। उव्वट—सब कुछ को आत्मरूप बनाती हुई (अर्थात् आत्मसात् करती हुई) प्राप्त हुई। मही०—विश्व में आ पहुँची। दया०—सबमें प्रविष्ट गर्भ को आवृत कर लिया।

४. **गर्भं**—सा०—हिरण्मय अण्डे के गर्भभूत प्रजापति को। मही०—हिरण्यगर्भ को। दया०—सभी पदार्थों के मूलभूत 'प्रधान' को।

५. **अग्निम्**—सा०—अग्नि से उपलक्षित आकाश आदि सम्पूर्ण भूतों को। उव्वट—(क)—अग्नि स्वरूप हिरण्यगर्भ को (ख)—हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करने वाले अग्नि को। मही०—अग्निरूपी हिरण्यगर्भ को। पीट०—अग्नि को। दया० ने 'अग्निम्' को 'जनयन्तीः' से पृथक् करके उसे 'समवर्तत' का कर्म माना है।

६. **ततः**—सा०—(क)—इसलिए (ख)—उस गर्भभूत प्रजापति से (ग)—उस जलराशि से। उव्वट और मही०—एक संवत्सर पर्यन्त रहे हुये गर्भ से। दया०—सर्वत्र व्याप्त सबके मूलभूत 'प्रधान' रूपी गर्भ से। पीट०—तब।

७. **समवर्तत**—सा०—उत्पन्न हुआ। उव्वट और मही०—वही। दया०—भली-भाँति प्रवृत्त करें।

८. **असुः**—सा०—(क) सभी प्राणियों का प्राण-भूत (=असुः) प्रजापति। (ख) देवादिकों का प्राणात्मक वायु। (ग)—प्राणात्मक प्रजापति। मही०—देवों का प्राणरूप आत्मा अर्थात् लिङ्ग-शरीररूपी हिरण्यगर्भ। दया०—प्राणरूप ईश्वर। पीट०—आत्मा।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८॥

पदपाठ—यः। चित्। आपः। महिना। परिऽअपश्यत्। दक्षम्। दधानाः। जनयन्तीः। यज्ञम्। यः। देवेषु। अधि। देवः। एकः। आसीत्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥ ८ ॥

सायणभाष्यम्—यज्ञं यज्ञोपलक्षितं विकारजातं जनयन्तीः उत्पादयन्तीः तदर्थं दक्षं प्रपञ्चात्मना वर्धिष्णुं प्रजापतिमात्मनि दधानाः धारयित्रीः। दधातेर्हेतौ (पा० ३।२।१२६) इति शानच्। 'अभ्यस्तानामादिः' (पा० ६।१।१८९)

इत्याद्युदात्तत्वम् । ईदृशीरापः । व्यत्ययेन प्रथमा । आपः प्रलयकालीनाः । महिना महिम्ना । छान्दसो मलोपः । स्वमाहात्म्येन यश्चित् यश्च प्रजापतिः पर्यपश्यत् परितो दृष्टवान् । यः च देवेष्वधि देवेषु मध्ये देवः तेषामपीश्वरः सन् एकोऽद्वितीय आसीद् भवति । अस्तेश्छान्दसो लुङ् । 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (पा० ७।३।९६) इतीडागमः । तस्मै कस्मा इत्यादि गतम् ॥ ८ ॥

हिन्दी—दक्ष (प्रजापति) को [दक्षम्] (गर्भवत्) धारण करती हुई [दधाना] (और) (अग्नि रूप) यज्ञ को [यज्ञम्] उत्पन्न करती हुई [जनयन्तीः] जल-राशि को [आपः] जिसने [यः चित्] (अपनी) महिमा से [महिना] चारों ओर देखा [पर्यपश्यत्], जो [यः] दिव्य गुण वाले प्राणियों के ऊपर [देवेषु अधि] एकमात्र [एकः] स्वामी [देवः] था [आसीत्],—(उसे छोड़ कर हम) किस (अन्य) [कस्मै] देवता के लिए [देवाय] हव्य सामग्री से [हविषा] (हवन आदि का) विधान करें [विधेम] ? ॥

टिप्पणियाँ—१. **यश्चित्**—यः + चित् । सा० 'चित्' को 'च' वाची मानते हैं । वस्तुतः 'चित्' पद अनिर्ज्ञात स्वरूप वाले, अतएव केवल 'किम्' शब्द के माध्यम से ही प्रकाशनीय प्रजापति का निर्देश करता है । 'चित्' को 'यः' का विशेषण मानकर भी बड़ा सुन्दर भाव प्राप्त होता है—'चित् स्वरूप जो प्रजापति' ।

२. **आपः**—इसका प्रयोग 'अपः' (द्वितीया, बहु व०) के अर्थ में हुआ है । सा० भी यहाँ 'व्यत्ययेन प्रथमा' मानते हैं । पूर्व-मन्त्रवत् यहाँ भी इस जल-राशि से प्रलयकालिक अप्रकेत सलिल ही अभीष्ट है ।

३. **महिना**—वेद में 'महिम्ना' के मकार-लोप से प्राप्त प्रयोग । सा० और मही०–अपनी महिमा से । उव्वट–अपने महाभाग्य से । दया०–अपनी व्यापकता की महिमा से । पीट०–अपनी शक्ति से । सभी का मन्तव्य लगभग समान है ।

४. **पर्यपश्यत्**—परि + अपश्यत् । चारों ओर देखा । प्रलयकालिक जलराशि चारों ओर व्याप्त थी ही । किन्तु अभी उसमें सृजन-शक्ति का अभाव था । प्रजापति ने अपनी महिमा (= अपने सामर्थ्य से) उक्त जल-राशि को, दक्ष प्रजापति को गर्भवत् धारण करने वाली और सृष्टि-समुत्पादिका उष्मा रूपी अग्नि को उत्पन्न करने वाली के रूप में, देखा—इस कथन का मात्र प्रयोजन यह है कि प्रजापति ने अपनी शक्ति से उक्त जलराशि को उक्त सामर्थ्यवती बना दिया । ध्यातव्य है कि ईश्वर रूप प्रजापति के कामना रूप रेतस् के बिना अप्रकेत सलिल रूप क्षेत्र से सृष्ट्युत्पत्ति कथञ्चिदपि शक्य नहीं है । 'महिना पर्यपश्यत्' का यही गूढ आशय है ।

५. दक्षम्—सा०–प्रपञ्च (= सृष्टि) रूप में बढ़ने की इच्छा रखने वाले प्रजापति को। उव्वट–वही। मही०–कुशल प्रजापति को। दया०–बल को। पीट०–शक्ति को।

६. यज्ञम्—सा०–यज्ञ से उपलक्षित सम्पूर्ण विकारजात। उव्वट–सृष्टि-यज्ञ को। मही०–यज्ञ करने वाली अथवा सृष्टि करने वाली प्रजाओं को। दया०–सङ्गत संसार को। पीट०–यज्ञ को। वस्तुतः यहाँ 'यज्ञ' अग्नि का वाची है, जिसके कारण सृष्टि उत्पन्न हुआ करती है। परमेश्वर के कामना रूपी रेतस् से समुत्पन्न अग्नि रूप उष्णता जब अप्रकेत सलिल रूप प्रकृति से सङ्गत होती है, तभी सृष्टि होना सम्भव है।

मा नो॑ हिंसीज्जनि॒ता यः पृ॑थि॒व्या यो वा॒ दिवं॑ स॒त्यध॑र्मा ज॒जान॑।
यश्चा॒पश्च॒न्द्रा बृ॑ह॒तीर्ज॒जान॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ९ ॥

पदपाठ—मा। नः। हिंसीत्। जनिता। यः। पृथिव्याः। यः। वा। दिवम्। सत्यऽधर्मा। जजान। यः। च। अपः। चन्द्राः। बृहतीः। जजान। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥ ९ ॥

सायणभाष्यम्—सः प्रजापतिर्नोऽस्मान् मा हिंसीत् मा बाधताम्। यः पृथिव्याः भूमेर्जनिता जनयिता स्रष्टा। 'जनिता मन्त्रे' (पा० ६।४।५३) इति णिलोपो निपात्यते। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात् (पा० ६।१।१७४) इति पृथिवी-शब्दाद्विभक्तेरुदात्तत्वम्। यो वा यश्च सत्यधर्मा सत्यमवितथं धर्मं जगतो धारणं यस्य स तादृशः प्रजापतिर्दिवमन्तरिक्षोपलक्षितान् सर्वांल्लोकान् जजान जनयामास। 'जनी प्रादुर्भावे'। णिचि वृद्धौ 'जनीजृष्क्नसुरञ्जः' (भ्वा० धातु पा०, पृ० १२१४) इति मित्वात् 'मितां ह्रस्वः' (पा० ६।४।९२) इति ह्रस्वत्वम्। ततो लिटि '···अमन्त्रे०' (पा० ३।१।३५) इति निषेधादाम्प्रत्ययाभावे तिपो णलि वृद्धौ 'लिति' (पा० ६।१।१९३) इति प्रत्ययात् पूर्वस्योदात्तत्वम्। यश्च बृहतीर्महतीश्चन्द्रा आह्लादिनीरप उदकानि जजान जनयामास। 'ऊडिदम्' (पा० ६।१।१७१) इत्यादिना अप्शब्दादुत्तरस्य शस उदात्तत्वम्। तस्मै कस्मा इत्यादि गतम् ॥ ९ ॥

हिन्दी—(वह प्रजापति) हमें [नः] पीड़ित न करे [मा हिंसीत्], जो कि [यः] पृथ्वी का [पृथिव्याः] स्रष्टा है [जनिता], तथा [वा] सत्य धर्म वाले [सत्यधर्मा] जिस (प्रजापति) ने [यः] द्यु-लोक को [दिवम्] उत्पन्न किया है [जजान] और [च] जिसने [यः] आह्लाद-कारिणी

[चन्द्राः] विशाल [बृहतीः] जल-राशि को [अपः] जन्म दिया है [जजान],—(उसे छोड़कर हम) किस (अन्य) [कस्मै] देवता के लिए [देवाय] हव्य सामग्री से [हविषा] (हवन आदि का) विधान करें [विधेम] ? ॥ ९ ॥

टिप्पणियाँ—१. **हिंसीत्**—√हिंस् (= हानि करना, बाधा डालना, चोट पहुँचाना, पीड़ा देना) + लुङ्, अन्य पु०, एक व० । सा०—बाधा न पहुँचावे । उव्वट और मही०—हिंसा न करे, वध न करे । दया०—रोगादिक से पीड़ित न करे । पीट०—चोट न पहुँचावे ।

२. **जनिता**—जन् (= उत्पन्न करना) + णिच् + तृच्प्रत्यय, पुल्लिंग, प्रथमा वि०, एक व० । यहाँ वेद में उपर्युक्त णिच् का लोप हो गया है ।

३. **वा**—यह समुच्चयवाची है, विकल्पवाची नहीं । सा० और मही० आदि ने भी इसे 'च' के अर्थ में स्वीकारा है ।

४. **दिवम्**—सा०—अन्तरिक्ष और उससे उपलक्षित सभी लोकों को । मही०—द्यु-लोक को । दया०—सूर्यादिक जगत् को । पीट—आकाश को ।

५. **सत्यधर्मा**—सा०—जगत् का धारण रूपी जिसका धर्म सच्चा है । मही०—सत्य को धारण करने वाला अथवा धारण कराने वाला (प्रजापति) । दया०—सत्य धर्म वाला (ईश्वर) । पीट०—सच्चा, विश्वास के योग्य ।

बहुव्रीहि समासयुक्त यह पद 'सत्यधर्मन्' शब्द के प्रथमा, एक व० का रूप है ।

६. **जजान**—√जन् (=पैदा करना) + लिट् लकार, अन्य पु०, एक व० ।

७. **अपश्चन्द्राः**—चन्द्राः अपः । सा०—आल्हादकारिणी जल-राशि । उव्वट–(क) मनुष्य (ख) कमनीय जल-राशि । मही०—आह्लादक, जगत् का कारणभूत, सृष्टि में प्रथम अर्थात् आदिभूत । 'उक्त जल का निर्माण किया'— इससे यह भाव निकलता है कि मनुष्यों को उत्पन्न किया । दया०—जल और वायु [= अपः] तथा चन्द्रलोक आदि [= चन्द्राः] । पीट०—देदीप्यमान जल-राशि ।

उक्त जल-राशि के उत्पन्न किये जाने से यहाँ भी अभिप्राय यही है कि प्रजापति ने अपने सामर्थ्य से उसमें उत्पादकता शक्ति जागृत कर दी । अन्यथा सृष्टि-रचना के पूर्व विद्यमान सलिल की पुनरुत्पत्ति का प्रश्न उठाना ही असङ्गत होता ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १० ॥

पदपाठ—प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

विशेष—ऋग्वेद-गत इस मन्त्र के संहिता-पाठ और पद-पाठ के एकरूप होने से मन्त्र का पदच्छेद नीचे दिया जा रहा है—

पदच्छेद—प्रजाऽपते । न । त्वद् । एतानि । अन्यः । विश्वा । जातानि । परि । ता । बभूव ॥ यत्ऽकामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ १० ॥

सायणभाष्यम्—इळादधाख्य इष्ट्ययने प्राजापत्यस्य हविषः 'प्रजापते' इत्येषानुवाक्या । सूत्रितं च—'प्राजापत्य इळादधः प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः' (आ० श्रौ० २।१४) इति । केशनखकीटादिभिर्दुष्टानि हवींष्यनयैवाप्सु प्रक्षिपेत् । सूत्रितं च—'अपोऽभ्यवहरेयुः प्रजापते न त्वदेतान्यन्यः' (आ० श्रौ० ३।१०) इति । चौलादिकर्मस्वप्येषा होमार्था । सूत्रितं च—'तेषां पुरस्ताच्चतस्र आज्याहुतीर्जुहुयादग्न आयूंषि पवस इति तिसृभिः प्रजापते न त्वदेतान्यस्य इति च' (आश्व० गृ० १।४।४) इति ।

हे प्रजापते त्वत् त्वत्तोऽन्यः कश्चिद् एतानि इदानीं वर्तमानानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० ६।१।७०) इति शेर्लोपः । जातानि प्रथमविकारभाञ्जि ता तानि सर्वाणि भूतजातानि न परिबभूव न परिगृह्णाति न व्याप्नोति । त्वमेवैतानि परिगृह्य स्रष्टुं शक्नोषीति भावः । परिपूर्वो भवतिः परिग्रहार्थः । वयं च यत्कामाः यत्फलं कामयमानास्ते तुभ्यं जुहुमः हवींषि प्रयच्छामः, तत् फलं नः अस्माकमस्तु भवतु । तथा वयं च रयीणां धनानां पतयः ईश्वराः स्याम भवेम । 'नामन्यतरस्याम्' (पा० ६।१।१७७) इति नाम उदात्तत्वम् ॥ १० ॥

हिन्दी—हे प्रजापते ! [प्रजापते] तुमसे भिन्न दूसरा कोई [त्वद् अन्यः] इन (= वर्तमान-कालिक) [एतानि] (और) उन (= भूतकालिक) [ता] सम्पूर्ण [विश्वा] समुत्पन्न पदार्थों को [जातानि] व्याप्त नहीं कर पाया [न परि बभूव]। जिस फल की कामना करते हुए [यत्कामाः] (हम) तुम्हें [ते] आहुति प्रदान करें [जुहुमः], वह [तत्] हमारा [नः] हो जाय [अस्तु] (अर्थात् हमें प्राप्त हो जाय); हम [वयम्] धन-सम्पत्तियों के [रयीणाम्] स्वामी [पतयः] हो जायँ [स्याम] ॥ १० ॥

टिप्पणियाँ—१. त्वदेतान्यन्यो—त्वत् + एतानि + अन्यः = त्वद् अन्यः (कोऽपि देवः), एतानि (जातानि न परि बभूव)।

२. एतानि ता विश्वा जातानि—एतानि तानि च विश्वाणि जातानि =

इन (= वर्तमान काल के) और उन (= भूतकाल के) सभी समुत्पन्न पदार्थों को। सा०—वही। उव्वट और मही० ने 'ता' (= तानि) का अर्थ 'जो उत्पन्न हो चुके हैं और जो उत्पन्न होंगे' किया है। किन्तु 'जातानि' (= वे पदार्थ जो उत्पन्न हो चुके हैं) के कारण हमें 'भविष्यज्जगत् के पदार्थ' अर्थ स्वीकारने में आपत्ति है।

३. **न परि बभूव**—सा०—परिग्रहण नहीं कर पाता, व्याप्त नहीं कर पाता अर्थात् परिग्रहण करके उत्पन्न नहीं कर पाता। उव्वट—(कालत्रयवर्ती पदार्थों के) चारों ओर अवस्थित नहीं हो सका। मही०—परिभव करने में समर्थ नहीं हो सका। 'परिभव' यहाँ सृष्टि-कर्म का उपलक्षण है, अतः 'उत्पन्न नहीं कर सका'। भाव यह है कि सृष्टि और संहार में समर्थ नहीं हो सका। दया०—व्यापक नहीं है। पीट०—'परि बभूव' का अर्थ 'शासन करते हो' करके 'त्वद् अन्यः न' का अर्थ 'तुमसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है' करने के पक्ष में हैं।

४. **यत्कामाः**—सा०—जिस फल की इच्छा करते हुए (हम लोग)। उव्वट और मही०—जिस कामना (= इच्छा) से। पीट०—(हमारे मन की) जो इच्छाएँ। किन्तु उनका यह अर्थ असङ्गत है।

५. **जुहुमः**—सा०—हवि-प्रदान करें। उव्वट और मही०—हवन करें। वही अर्थ। दया०—भक्ति करें तथा आश्रय ग्रहण करें; प्रशंसा करें; सेवन करें। पीट०—आवाहन करें, पुकारें।

६. **तन्नो अस्तु**—(यत्-कामाः ते जुहुमः) तत् नः अस्तु। वैदिक धर्म के कर्म-सिद्धान्त का यह मूल रहा है कि उपासक और उपास्य अर्थात् मनुष्य और देवता एक दूसरे के इस प्रकार उपकारक बन जायँ कि मनुष्य यज्ञ में हवि आदि प्रदान करके देवताओं को पुष्ट बनावें और बदले में देवता-गण धन-धान्य देकर मनुष्यों को समृद्ध बनावें। यह बात इतनी सुनिश्चित थी कि आगे चलकर यह धारणा-सी बन गई कि—'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः' (अ० वे० ७।५०।८) = कर्म मेरे दाहिने हाथ में है तो उसका फल बायें हाथ में। लगभग यही भावना प्रस्तुत मंत्र में देखी जा सकती है।

७. **विशेष**—प्रस्तुत मन्त्र का जो रूप संहिता-पाठ में प्राप्त है, वही पद-पाठ में भी। ऋग्० में इस प्रकार के छः मन्त्र उपलब्ध होते हैं। इनमें पद-पाठ के नियमों के लागू न किए जाने का कुछ कारण समझ में नहीं आता। इसे पद-पाठों के उद्भावक शाकल्य ऋषि का प्रमाद माना जाय, या उनका कोई गूढ मन्तव्य ?।

वाक्सूक्तम्

(ऋग्० १०।१२५)

[इस सूक्त के ऋषि 'आम्भृणी वाक्' (= अम्भृण ऋषि की पुत्री वाक् नामक ब्रह्मविदुषी), देवता 'वाक् रूपी परमात्मा', छन्द 'त्रिष्टुप्' (मन्त्र १, ३-८ में) और 'जगती' (मन्त्र २ में) तथा स्वर 'धैवत' (मंत्र १, ३-८ में) और 'निषाद' (मंत्र २ में) हैं ।]

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

पदपाठ—अहम् । रुद्रेभिः । वसुऽभिः । चरामि । अहम् । आदित्यैः । उत । विश्वऽदेवैः । अहम् । मित्रावरुणा । उभा । बिभर्मि । अहम् । इन्द्राग्नी इति । अहम् । अश्विना । उभा ॥ १ ॥

सायणभाष्यम्—'अहम्' इत्यष्टर्चं त्रयोदशं सूक्तम् । अम्भृणस्य महर्षेर्दुहिता वाङ्नाम्नी ब्रह्मविदुषी स्वात्मानमस्तौत । अतः सर्षिः । सच्चित्सुखात्मकः सर्वगतः परमात्मा देवता । तेन ह्येषा तादात्म्यमनुभवन्ती सर्वजगद्रूपेण सर्वस्याधिष्ठानत्वेन चाहमेव सर्वं भवामीति स्वात्मानं स्तौति । द्वितीया जगती, शिष्टाः सप्त त्रिष्टुभः । तथा चानुक्रान्तम्—'अहमष्टौ वागाम्भृणी तुष्टावात्मानं द्वितीया जगती' इति गतो विनियोगः ।

अहं सूक्तस्य द्रष्ट्री वागाम्भृणी यद् ब्रह्म जगत्कारणं तद्रूपा भवन्ती रुद्रेभी रुद्रैरेकादशभिः । इत्थंभावे तृतीया । तदात्मना चरामि । एवं वसुभिरित्यादौ तत्तदात्मना चरामीति योज्यम् । तथा मित्रावरुणा मित्रं च वरुणं च । 'सुपां सुलुक्...' (पा० ७।१।३९) इति द्वितीयाया-आकारः । उभा उभौ अहमेव ब्रह्मीभूता बिभर्मि धारयामि । इन्द्राग्नी अप्यहमेव धारयामि । उभा उभौ अश्विना अश्विनौ अप्यहमेव धारयामि ।

मयि हि सर्वं जगच्छुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं सद् दृश्यते । माया च जगदाकारेण विवर्तते । तादृश्या मायाया आधारत्वेनासङ्गस्यापि ब्रह्मण उक्तस्य सर्वस्योत्पत्तिः ॥ १ ॥

हिन्दी—(अम्भृण नामक महर्षि की पुत्री वाक् नाम वाली) मैं [अहम्] रुद्रों और वसुओं के साथ [रुद्रेभिः वसुभिः] सञ्चरण करती हूँ [चरामि], मैं (ही) [अहम्] आदित्यों [आदित्यैः] और [उत] विश्वदेवों के साथ [विश्वदेवैः] (सञ्चरण करती हूँ); मैं (ही) [अहम्] मित्र और वरुण [मित्रावरुणा] दोनों को [उभा] धारण करती हूँ [बिभर्मि], मैं (ही) इन्द्र और अग्नि को [इन्द्राग्नी] (तथा) मैं (ही) [अहम्] दोनों [उभा] अश्विनों को [अश्विना] (धारण करती हूँ) ॥ १ ॥

टिप्पणियाँ—१. अहम्—सा०—इस मन्त्र की द्रष्ट्री वाक् नाम-धारिणी ब्रह्मविदुषी, जो अम्भृण नामक ऋषि की पुत्री थी तथा जिसने वाक् रूप से अवस्थित परब्रह्म परमात्मा से साक्षात्कार करके तादात्म्य स्थापित कर लिया था। विश्व के कण-कण में अपने ही विस्तार का दर्शन करती हुई वह स्वयं अपने आपका स्तवन कर रही है।

प्रायः विद्वान् प्रस्तुत सूक्त को दार्शनिकता से ओत-प्रोत मानते हैं। यास्क मुनि भी इस प्रकार के मंत्रों को आध्यात्मिक बतलाते हैं (दे०-निघं० ७।१-२)।

प्रस्तुत 'अहम्' पद से वाक् रूप परमेश्वर और वाक् नाम धारिणी अम्भृण ऋषि की विदुषी पुत्री का एकपदेन बोध होता है। 'परमात्मा' अर्थ में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—'अतति व्याप्नोतीत्यहमात्मा हिरण्यगर्भः' = जो विश्व के सभी पदार्थों को व्याप्त कर ले, अथवा उनमें व्याप्त हो।

आम्भृणी वाक् को इस प्रकार व्युत्पन्न किया जा सकता है—'आप्यते आप्नोति वा अम्भः' (उ० ४।२१०)। अम्भसा ऋणोति गतिं करोति इति अम्भृणः, तस्य इयम् इति आम्भृणी = अम्भस् (= अप्रकेत सलिल) के द्वारा सृष्टि के लिए गति उत्पन्न करने वाला 'अम्भृण' तथा उसकी शक्ति को 'आम्भृणी' कहा जायगा। सृष्टि-हेतु समुत्पादित गति से जो शब्द उद्गत हुआ, उसका नाम वाक् (स्त्रीलिङ्ग) है। इस प्रकार 'आम्भृणी वाक्' ब्रह्म की ही शक्ति है।

२. रुद्रेभिः—सा०—रुद्र नामक देवों के साथ, जिनकी संख्या ११ है। इन्हें रुद्र-गण कहते हैं। इत्थंभावे तृतीया। आशय यह है कि 'रुद्रों का स्वरूप धारण करके।' दा० सा०—वीरों के साथ।

'रुद्र' की अनेकविध व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं—रुत् दुःखं द्रावयति विनाशयति इति रुद्रः। रुत् ज्ञानं राति ददाति इति रुद्रः। रोदयति इति रुद्रः। यद् अरोदीत् तस्माद् रुद्रः। विस्तार के लिए दे०—ऋग्० १।११४।१ पर सायण कृत भाष्य।

रुद्र-गण उग्र, भयङ्कर, क्रोधी और हिंसक होते हुए भी अपने भक्त-जनों का कल्याण करते हुये चित्रित किये गये हैं। 'रुद्र' को वेबर 'आँधी-तूफ़ान का देवता', हिल्लेब्राण्ट 'ग्रीष्म का देवता', श्रोडर 'मृतात्माओं का देवता' और ओल्डेनबर्ग 'वन-उपवन का देवता' मानते हैं। आगे चलकर भारतीय पुराण-कथाओं में रुद्रों का शिव से एकीभाव स्थापित कर दिया गया है।

३. **वसुभिः**—सा०—वसु नामक देवों के साथ। इनकी संख्या ८ है। दा० सा०—वीरजनों के साथ।

वासयन्ति आच्छादयन्ति धारयन्ति वा इति वसवः = जो सबके आच्छादक अथवा धारक हैं। वसु-गण रुद्र-पुत्र भी माने जाते हैं (दे०—ऋग्० ६।५०।४)। कहीं प्राणों को 'वसु' कहा गया है (जै० उ० ४।२।३), कहीं आदित्यों को (ऋग् ५।५१।१०) तथा कहीं अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्रों को (श० ११।६।३।६)।

४. **आदित्यैः**—आदित्यों के साथ, जिनकी संख्या १२ तक मानी गई है। दा० सा०—स्वतन्त्रता के वीरों के साथ।

आदित्य-गण अदिति के पुत्र माने जाते हैं। दे०—'अष्टौ पुत्रासः अदितेः' (ऋग्० १०।७२।८)। आदान (= ग्रहण) करने की शक्ति के कारण ही आदित्यों के नाम की सार्थकता है।

५. **विश्वदेवैः**—विश्व देवों के साथ। पीट०—सभी देवताओं के साथ। 'विश्वेदेवाः' से अभिप्राय सम्भवतः 'विश्वेदेवासूक्तम्' (ऋ० १।८९) में गिनाये गये भग, मित्र, अदिति, दक्ष, मरुत्, अर्यमा, वरुण, सोम, अश्विन्, सरस्वती, इन्द्र, पूषण, तार्क्ष्य, बृहस्पति, वायु, पृथिवी, द्युलोक आदि से है। 'विश्वेदेवाः' के अन्तर्गत गिने जाने वाले देवताओं के लिये ऋग्० १।१४।३, ८।२८।२ और १०।६५।१ भी देखिये। ऋग्० ८।३५।३ में तो 'विश्वेदेवाः' के अन्तर्गत ३३ देवताओं को गिनाया गया है।

'विश्वेदेवाः' के स्वरूप-परिज्ञान हेतु उसकी इस व्युत्पत्ति पर ध्यान देना चाहिये—विश्वं सर्वं दीव्यन्ति इति विश्वदेवाः = जो सबको प्रकाशित, आनन्दित और शासित करें। ये गुण प्रायः प्रत्येक वैदिक देवता में वर्णित हैं अतएव 'विश्वदेवाः' और 'विश्वेदेवाः' की व्याकरण-संरचना के पचड़े में नहीं पड़ना चाहिये।

६. **चरामि**—सञ्चरण करती हूँ। उपरि कथित तत्तत् देवों के स्वरूप को धारण करके गतिशील होती हूं, अर्थात् वे मेरी ही विविध शक्तियाँ हैं, उन देवों में निहित देवत्व मैं ही हूँ।

७. मित्रावरुणोभा—मित्रावरुणा + उभा। 'मित्रावरुणौ उभौ' के वैदिक रूप। सा०—मित्र और वरुण नामक देवों को। दा० सा०—मित्रों और श्रेष्ठ-जनों को।

√मा (= निर्माण करना) से व्युत्पन्न 'मित्र' तथा √वृ (= आवृत करना) से व्युत्पन्न 'वरुण' क्रमशः ब्रह्म की निर्माणकारी और धारक शक्तियाँ हैं।

८. बिभर्मि—धारण करती हूं, अर्थात् वे भी मेरे अङ्गभूत हैं। सा० की अन्त्य टिप्पणी दर्शनीय है—'यह सारा जगत् मेरे अन्दर उसी प्रकार देखा जा सकता है, जिस प्रकार शुक्ति में रजत का बोध होता है।'

९. इन्द्राग्नी—इन्द्रश्च अग्निश्च इन्द्राग्नी। 'इन्द्र' और 'अग्नि' के लिए दे०—इन्द्रसूक्त (ऋ० २।१२) और अग्निसूक्त (१।१) की सम्बन्धित टिप्पणियाँ। दा० सा०—शत्रु का दमन करने वाले वीर (= इन्द्र) और ज्ञान प्रसार करने वाले (= अग्नि)।

१०. अश्विना—अश्विनौ का वैदिक रूप। दा० सा० चिकित्सक और शस्त्र-वैद्य।

अश्विनी कुमारों के प्रसिद्ध युगल की अनेकधा कल्पना की गई है—इन्हें देवताओं के वैद्य के रूप में, प्रातः और सायं की सन्ध्या-वेलाओं के रूप में, प्रकाश-अन्धकार, दिन-रात, उदय-अस्त, आकाश-पृथ्वी आदि युगलों के रूप में निरूपित किया गया है।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये ३ यजमानाय सुन्वते ॥२॥

पदपाठ—अहम्। सोमम्। आहनसम्। बिभर्मि। अहम्। त्वष्टारम्। उत। पूषणम्। भगम्। अहम्। दधामि। द्रविणम्। हविष्मते। सुप्रऽअव्ये। यजमानाय। सुन्वते ॥

सायणभाष्यम्—आहनसम् आहन्तव्यमभिषोतव्यं सोमं यद्वा शत्रूणामाहन्तारं दिवि वर्तमानं देवतात्मानं सोमम् अहम् एव बिभर्मि। तथा त्वष्टारम् उत अपि च पूषणं भागं च अहमेव बिभर्मि। तथा हविष्मते हविर्भिर्युक्ताय सुप्राव्ये शोभनं हविर्देवानां प्रापयित्रे तर्पयित्रे। अवतेस्तर्पणार्थात् 'अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः' (उ० ३।१५८) इतीकारप्रत्ययः। चतुर्थ्येकवचने यणि 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (पा० ८।२।४) इति सुपः स्वरितत्वम्। सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते। 'शतुरनुमः' (पा० ६।१।१७३) इति चतुर्थ्या उदात्तत्वम्। ईदृशाय यजमानाय द्रविणं धनं यागफलरूपम् अहमेव

दधामि धारयामि। एतच्च ब्रह्मणः फलदातृत्वं 'फलमत उपपत्तेः' (वे० सू० ३।२।३८) इत्यधिकरणे भगवता भाष्यकारेण समर्थितम् ॥ २ ॥

हिन्दी—मैं [अहम्] शत्रु-संहारकर्ता [आहनसम्] सोम नामक देवता को [सोमम्] धारण करती हूँ [बिभर्मि] और [उत] मैं (ही) [अहम्] त्वष्टा, पूषा (और) भग नामक देवताओं को [त्वष्टारम् पूषणम् भगम्] (धारण करती हूँ); मैं [अहम्] हवि प्रदान करने वाले [हविष्मते], सोम का अभिषव करने वाले (अर्थात् उसका रस निचोड़ने वाले) [सुन्वते] (और इसलिये) भली भाँति रक्षणीय [सुप्राव्ये] यजमान के प्रति [यजमानाय] धनसम्पत्ति [द्रविणम्] धारण करती हूँ (अर्थात् उसे प्रदान करती हूँ) [दधामि] ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१. **सोमम्**—सा०—(क) सोमनामक ओषधि विशेष। (ख) द्युलोक में स्थित शत्रु-निहन्ता सोम नामक देवता विशेष। दा० सा०—वीर को।

ऋग्० में बहुचर्चित (प्रायः १२० सूक्तों में) सोम का स्वरूप अस्पष्टप्राय है। विभिन्न विद्वानों ने अनेक देशी-विदेशी पौधों को 'सोम' से अभिन्न माना है। किन्तु वह कोरी कल्पना मात्र है। क्योंकि स्वयं वैदिक आर्यों को सोमलता नामक किसी ओषधि का सम्यक् ज्ञान नहीं था। यह बात दूसरी है कि भाष्यकारों ने अनेक स्थलों पर सिलबट्टे में उसका पीसा जाना, उसके रस का निचोया जाना और उस रस का पकाया जाना, उस सिद्ध सोम का यज्ञ में आहुतिरूपेण प्रयुक्त होना, देवताओं का सोमरस-प्रेमी होना आदि अर्थ प्रस्तुत किये हैं। 'सोम' को उक्त सोमलता का अधिदेव माना जा सकता है।

सोम वस्तुतः प्रकाशवाची है। वह सूर्य और विद्युत् से उत्पन्न होता है तथा अपने शत्रुभूत अन्धकार को मारता है। उसे पर्जन्य का भी पुत्र कहा गया है। आगे चल कर (विशेषतः ब्राह्मण-युग में) सोम चन्द्रमा का वाची बन गया।

२. **आहनसम्**—सा०-(क)-अभिषव के योग्य (= रस निचोड़ जाने योग्य)। (ख)-शत्रुओं का संहार करने वाला। दया०-व्याप्त बना हुआ। दा० सा०-शत्रु-निहंता। आहनसम् = आ + √हन् (= मारना) + असुन् प्रत्यय, द्वितीया वि०, एक व०।

३. **त्वष्टारम्**—सा०-त्वष्टा नामक देवता। दा० सा०-शिल्पकार। त्वष्टा वस्तुतः देवों का शिल्पी है। इन्द्र के वज्र का निर्माण उसी ने किया। दे०—त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत् (ऋग्० १।८५।९);

त्वष्टा अस्मै वज्रं स्वयं ततक्ष (ऋग्० १।३२।२); तक्षन् त्वष्टा वज्रम् (ऋग्० ५।३१।४)। उसे प्रायः समस्त रूपों की रचना करने वाला (= विश्वरूप) कहा गया है। दे०—देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः (ऋग्० ३।५५।१९); त्वष्टा रूपाणि पिंशतु (ऋग्० १०।१८४।१)। रूप और प्रकाश का द्योतक होने से उसका सूर्य से तादात्म्य भी स्थापित किया जा सकता है।

४. **पूषणम्**—सा० और पीट०—पूषा नामक देवता। दा० सा०—पोषण करने वाला। पोषक तत्त्व प्रधान होने से 'पूषा' को चन्द्रमा, सूर्य, ओषधि, मेघ, ब्रह्मचर्य, वैद्य, दुग्ध आदि का वाची माना जा सकता है।

५. **भगम्**—सा० और पीट०—भग नामक देवता। दा० सा०—धनवान्। 'भग' को प्रायः ऐश्वर्यवाची ही माना गया है। इसीलिए दया० उसे विश्व का अधिपति, ऐश्वर्यशाली, समृद्धि-प्रदाता आदि अर्थों में ग्रहण करते हैं।

६. **सुप्राव्ये**—सा०—देवों को शोभन हवि प्रदान करने वाले (के लिये)। पीट०—धर्मशील (के लिए)। दा० सा०—सुरक्षित रहने योग्य व्यक्ति (के लिए)।

सु + प्र + √अव् (= रक्षा करना, सहायता करना) + ई प्रत्यय। हमें इसका 'भली प्रकार रक्षा किये जाने योग्य' अर्थ ही अभिमत है, क्योंकि सम्यक् सुरक्षित यजमान द्वारा प्रदत्त हवि आदि से ही देवों की शक्ति का पोषण होता है। हविष्मान् और सोमाभिषवकर्त्ता यजमान को 'सुप्राव्य' (= सुरक्षणीय) होना ही चाहिये।

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ ३ ॥

पदपाठ—अहम्। राष्ट्री। सम्ऽगमनी। वसूनाम्। चिकितुषी।
प्रथमा। यज्ञियानाम्। ताम्। मा। देवाः। वि। अदधुः।
पुरुऽत्रा। भूरिऽस्थात्राम्। भूरि। आऽवेशयन्तीम्॥३॥

सायणभाष्यम्—अहं राष्ट्री। ईश्वरनामैतत्। सर्वस्य जगत ईश्वरी। तथा वसूनां धनानां सङ्गमनी सङ्गमयित्री उपासकानां प्रापयित्री। चिकितुषी यत् साक्षात्कर्त्तव्यं परं ब्रह्म तज्ज्ञातवती स्वात्मतया साक्षात्कृतवती। अत एव यज्ञियानां यज्ञार्हाणां प्रथमा मुख्या। या एवङ्गुणविशिष्टाहं तां मां भूरिस्थात्रां बहुभावेन प्रपञ्चात्मनावतिष्ठमानां भूरि भूरीणि बहूनि भूतजातानि आवेशयन्तीं जीवभावेनात्मानं प्रवेशयन्तीम्। ईदृशीं मां पुरुत्रा बहुषु देशेषु व्यदधुर्देवा विदधति कुर्वन्ति। उक्तप्रकारेण वैश्वरूपेणावस्थानाद् यद्यत्कुर्वन्ति तत्सर्वं मामेव कुर्वन्तीत्यर्थः॥ ३॥

हिन्दी—मैं [अहम्] (सम्पूर्ण विश्व की) स्वामिनी [राष्ट्री], धन-सम्पत्तियों को [वसूनाम्] दिलाने वाली [सङ्गमनी], ब्रह्मज्ञानवती [चिकितुषी] (और) यज्ञ के भागी देवताओं में [यज्ञियानाम्] प्रथमस्थानीय [प्रथमा] (हूँ); अनेक स्थानों में (अर्थात् सर्वत्र) स्थित [भूरिस्थात्राम्] (और) अनेक (अर्थात् सभी) प्राणियों में (जीवरूपेण) अपना प्रवेश कराती हुई [भूरि + आवेशयन्तीम्], पूर्वोक्त स्वरूप वाली मुझे [तां मा = माम्] देवों ने [देवाः] अनेक स्थानों में [पुरुत्रा] पृथक्-पृथक् स्थापित किया है [वि + अदधुः] ॥ ३ ॥

टिप्पणियाँ—१. राष्ट्री—सा०-सम्पूर्ण जगत् की ईश्वरी (= स्वामिनी) । दा० सा०-राष्ट्रशक्ति । पीट०-'अहं वसूनां सङ्गमनी राष्ट्री' को एक साथ लेकर उसका अर्थ 'मैं धनों को एकत्र करने वाली रानी हूँ' करते हैं । √राज् (= चमकना, शासन करना)+ष्ट्रन् प्रत्यय + ङीष् (स्त्री०) ।

२. सङ्गमनी—सा०-उपासकों को प्राप्त कराने वाली अर्थात् दिलाने वाली । दा० सा० और पीट०-एकत्र करने वाली । सङ्गमनी = सम् + √गम् (= जाना) + णिच् + ल्युट् प्रत्यय + ङीप् (स्त्री०) ।

३. वसूनाम्—सा०-धनों की । पीट०-वही । दा० सा०-अष्ट संख्यक वसुओं की । डॉ० सुधीरकुमार गुप्त वसुओं को पृथ्वी आदि ग्रहों का वाची मानते हैं, जो कि परमात्मा की शक्ति (यहाँ वाक्) के द्वारा अपनी-अपनी परिधियों में सङ्गमनशील बनाये जाते हैं ।

४. चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्—सा०-ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने वाली [= चिकितुषी] और यज्ञ के भागी देवताओं में [= यज्ञियानाम्] प्रमुख [= प्रथमा] हूँ । पीट०-देवताओं को [= यज्ञियानाम्] सर्वप्रथम [= प्रथमा] जानने वाली [= चिकितुषी] हूँ । दा० सा०-ज्ञान देने वाली [= चिकितुषी] और सत्कार के योग्य लोगों में [= यज्ञियानाम्] प्रथम [= प्रथमा] हूँ । चिकितुषी = √कित् + क्वसु प्रत्यय + ङीप् (स्त्री०) ।

५. व्यदधुः—वि + अदधुः । सा०—करते हैं (इस अर्थ की पुष्टि में उनका कथन है कि चूँकि वाक् विराट्-रूपेण स्थित है, इसलिये देवता-गण जो कुछ भी करते हैं, उसे ही करते हैं) । पीट०-स्थापित किया । दा० सा०-उपस्थित होने का अनुभव किया । वि-अदधुः = वि + √धा + लुङ् (अन्य पु०, बहु व०) ।

६. पुरुत्रा—सा० और पीट०-अनेक स्थानों में, बहुत से देशों में । दा० सा०-अनेक केन्द्रों में । पुरुत्रा = पुरु + त्रल् प्रत्यय (स्त्री०) ।

ध्यातव्य है कि इस प्रकार 'पुरुत्रा व्यदधुः' और 'भूरिस्थात्रां' का समान अर्थ होने से असङ्गति उत्पन्न हो जाती है। जो स्वयं अनेक स्थानों में स्थित है [= भूरिस्थात्रां] उसे देवता-गण पुनः अनेक स्थानों में प्रस्थापित कैसे करेंगे [पुरुत्रा व्यदधुः] ? 'व्यदधुः' का अर्थ 'पृथक्-पृथक् स्थापित किया' (अर्थात् अमुक-अमुक देवी-देवताओं के रूप में उसकी स्थापना की) करने पर समाधान प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार भाव यह होगा कि विविध स्थानों में जो भी देवी-देवता प्रचलित हैं, वे सब उस ब्रह्मस्वरूपा वाक् के ही अवान्तर रूप हैं।

७. **भूरिस्थात्राम्**—सा०-अनेक प्रकार से प्रपञ्च (= सृष्टि) रूप में अवस्थित (मा = माम् का विशे०)। पीट०-(मुझे) प्रत्येक स्थान में निवास करवाते हुए। भूरिस्थात्राम् = भूरि + √स्था + त्रल् प्रत्यय, स्त्री०, द्वि० वि०, एक व०।

८. **भूरि आवेशयन्तीम्**—सा०-बहुत से प्राणियों में [= भूरि] जीव रूप से अपने आपको प्रविष्ट कराती हुई [= आवेशयन्तीम्]। पीट०-प्रत्येक स्थान पर [= भूरि] प्रविष्ट कराते हुए [= आवेशयन्तीम्]। अनेक वीरों को [= भूरि] आवेश प्रदान करने वाली, अथवा उन्हें स्फुरित करने वाली।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥

पदपाठ—**मया। सः। अन्नम्। अत्ति। यः। विऽपश्यति। यः। प्राणिति। यः। ईम्। शृणोति। उक्तम्। अमन्तवं। माम्। ते। उप। क्षियन्ति। श्रुधि। श्रुत। श्रद्धिऽवम्। ते। वदामि ॥ ४ ॥**

सायणभाष्यम्—यः अन्नमत्ति सः भोक्तृशक्तिरूपया मया एवान्नमत्ति। यः च विपश्यति। आलोकयतीत्यर्थः। यः च प्राणिति श्वासोच्छ्वासरूपं व्यापारं करोति सोऽपि मयैव। यश्च उक्तं शृणोति। 'श्रु श्रवणे'। 'श्रुवः शृ च' (पा० ३।१।७४) इति श्नुप्रत्ययः। धातोः शृभावः। यः ईदृशीमन्तर्यामिरूपेण स्थितां मां न जानन्ति ते अमन्तवः अमन्यमाना अजानन्तः उप क्षियन्ति उपक्षीणाः संसारेण हीनाः भवन्ति। मनेरौणादिकस्तुप्रत्ययः (उ० १।७५)। नञ् समासे व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम्। यद्वा—भावे तुप्रत्ययः। ततो बहुव्रीहौ 'नञ्सुभ्याम्' (पा० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। मामन्तवो मद्विषयज्ञानरहिता इत्यर्थः। हे श्रुत विश्रुत सखे श्रुधि। मया वक्ष्यमाणं शृणु। छान्दसो विकरणस्य लुक्। 'श्रुशृणुपॄकृवृभ्यः' (पा० ६।४।१०२) इति हेर्धिभावः। किं तच्छ्रोतव्यम्।

श्रद्धिवम् । श्रद्धिः श्रद्धा । तया युक्तम् । श्रद्धायत्नेनलभ्यमित्यर्थः । 'श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिरिष्यते' (पा० १।४।५७, वा०–२) इति श्रच्छब्दस्योपसर्गवद्वर्तमानत्वात् 'उपसर्गे घोः किः' (पा० ३।३।९२) इति किप्रत्ययः । मत्वर्थीयो वः । ईदृशं ब्रह्मात्मकं वस्तु ते तुभ्यं वदामि उपदिशामि ॥ ४ ॥

हिन्दी—(जो) अन्न खाता है [अन्नं अत्ति], जो [यः] देखता है [विपश्यति], जो [यः] श्वास लेता है [प्राणिति] और जो [यः ईम्] कही हुई बात को [उक्तम्] सुनता है [शृणोति], वह [सः] मेरे द्वारा (ही वैसा करने में समर्थ बनाया जाता है) [मया]। मुझे [माम्] न मानने वाले [अमन्तवः] (जो लोग हैं), वे [ते] विनष्ट हो जाते हैं [उप क्षियन्ति]। हे विश्रुत (= विद्वन्) ! [श्रुत] सुनो [श्रुधि]। (मैं) तुम्हें [ते] विश्वास के योग्य बात [श्रद्धिवम्] बतलाती हूँ [वदामि] ॥ ४ ॥

टिप्पणियाँ—१, **मया सो अन्नमत्ति**—मया सः अन्नम् अत्ति । पीट० के अनुसार—'यः विपश्यति, यः प्राणिति, यः ईम् उक्तम् शृणोति, **सः मया अन्नम् अत्ति = वह मुझसे ही अन्न प्राप्त करता है**। इस प्रकार वे समस्त प्राणियों के दिव्य जगत् से दिव्य भोजन प्राप्त करने की बाइबिल सम्मत कथा की ओर निर्देश करते हैं ।

किन्तु इस भाव में कोई औचित्य नहीं हैं। खाना, देखना, श्वास लेना और सुनना आदि जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब परमात्मा की ही प्रेरणा से सम्भव हैं । इस लिए 'अन्नं अत्ति' को अलग नहीं करना चाहिये ।

२. **अमन्तवः**—सा०-(इस प्रकार अन्तर्यामी रूप में वर्तमान मुझे) जो वैसा नहीं मानते हैं, अर्थात् मेरे वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ व्यक्ति । पीट०-(मेरी शक्ति को) न जानने वाले । दा० सा०-अपमान करने वाले । तुल०-'अमन्यमानान् शर्वा जघान' (ऋग्० २।१२।१०) ।

३. **उप क्षियन्ति**—उप + √क्षि (= क्षीण होना) + लट् , अन्य पु०, बहु व० । सा०-उपक्षीण हो जाते हैं अर्थात् संसार से रहित हो जाते हैं । पीट०-मेरे नियन्त्रण में हैं । दा० सा०-नष्ट हो जाते हैं ।

४. **श्रुधि**—√श्रु (= सुनना) + लोट् लकार, मध्यम पु०, एक व० । 'शृणु' का वैदिक रूप । सुनो ।

५. **श्रुत**—√श्रु (= सुनना) + क्त प्रत्यय, सम्बोधन, एक व० । सा० हे श्रुत = हे विश्रुत = हे विज्ञ पुरुष ! लुडविग आदि कुछ पाश्चात्य विद्वान् 'श्रुतश्रद्धिवम्' को एक पद मान कर उसका अर्थ 'परम्परा से जो विश्वास के

योग्य है, उसे' करते हैं, किन्तु ऐसा करना असङ्गत है, क्योंकि पदपाठ में भी दोनों को पृथक्-पृथक् दो पद माना गया है।

६. श्रद्धिवम्—सा०-श्रद्धा से युक्त अर्थात् श्रद्धा और प्रयत्न से प्राप्य ब्रह्मात्मक वस्तु। पीट०-सत्य। तुल०-'श्रदस्मै धत्त···' (ऋ० २।१२।५)।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

पदपाठ—अहम्। एव। स्वयम्। इदम्। वदामि। जुष्टम्। देवेभिः। उत। मानुषेभिः। यम्। कामये। तम्ऽतम्। उग्रम्। कृणोमि। तम्। ब्रह्माणम्। तम्। ऋषिम्। तम्। सुऽमेधाम् ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम्—अहं स्वयम् एव इदं वस्तुब्रह्मात्मकं वदामि उपदिशामि। देवेभिः देवैरिन्द्रादिभिरपि जुष्टं सेवितम्। उत अपि च मानुषेभिः मनुष्यैरपि जुष्टम्। ईदृग्वस्त्वात्मिकाहं यं कामये यं पुरुषं रक्षितुमहं वाञ्छामि तं तं पुरुषं उग्रं कृणोमि सर्वेभ्योऽधिकं करोमि। तं ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि। तम् एव ऋषिम् अतीन्द्रियार्थदर्शिनं करोमि। तम् एव सुमेधां शोभनप्रज्ञं च करोमि ॥ ५ ॥

हिन्दी—देवताओं [देवेभिः] और [उत] मनुष्यों द्वारा [मानुषेभिः] वितर्कित (=वितर्कपूर्वक सोची गई) [जुष्टम्] इस बात को [इदम्] मैं [अहम्] स्वयं ही [स्वयम् एव] बतला रही हूँ [वदामि]। (मैं) जिसे-जिसे [यम्] चाहती हूँ [कामये], उसे-उसे [तम् तम्] बलशाली [उग्रम्], उसे [तम्] ब्रह्मतेज से युक्त [ब्रह्माणम्], उसे [तम्] तपःशील [ऋषिम्], उसे [तम्] मेधावी [सुमेधाम्] बना देती हूँ [कृणोमि] ॥ ५ ॥

टिप्पणियाँ—१. **इदम्**—सा०-ब्रह्मात्मक वस्तु को। हमें यहाँ यह आपत्ति है कि जब मंत्रद्रष्ट्री आम्भृणी वाक् स्वयं ब्रह्मस्वरूपा है, तो फिर ब्रह्म के लिए 'स्वं', 'आत्मानं' आदि शब्दों का प्रयोग न करके उसने कैसे 'इदं' पद का प्रयोग किया, जो कि दोनों की एकरूपता में बाधक बनता है। हमने अपने हिन्दी अनुवाद में इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

२. **जुष्टम्**—सा०-(देवताओं और मनुष्यों द्वारा) सेवित। हमें इसका अर्थ 'वितर्कित' अभिमत है। दे०-जुष्टम् = √जुष् परितर्कणे (१ परस्मै०, १० उभय०)+क्त प्रत्यय।

३. उग्रम्, ब्रह्माणम्, ऋषिम्, सुमेधाम्—सम्भवतः यहाँ उग्रम् (= बलशाली) से 'क्षत्रिय', ब्रह्माणम् (= ब्रह्मतेज से युक्त) से 'ब्राह्मण', ऋषिम् (= तपशील) से 'श्रमजीवी वर्ग' और सुमेधाम् (=सुंदर मेधा वाला) से चतुर 'वणिक् वर्ग' सङ्केतित हो रहा है।

इस मन्त्र को आधार बना कर म्यूर महोदय (दे०—ओरिजिनल टेक्स्ट्स १।२४६) में इस मत की स्थापना कर डाली है कि ब्राह्मणादिक वर्णों की सम्प्राप्ति जन्म-स्वभावादि के अनुसार नहीं, अपितु दैवी कृपा से हुआ करती है। किन्तु हमें तो 'गुण-कर्म-विभागतः' ही वर्ण-निर्णय का सिद्धान्त अभिमत है।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ६ ॥

पदपाठ—अहम्। रुद्राय। धनुः। आ। तनोमि। ब्रह्मऽद्विषे। शरवे। हन्तवै। ऊँ इति। अहम्। जनाय। सऽमदम्। कृणोमि। अहम्। द्यावापृथिवी इति। आ। विवेश ॥६॥

सायणभाष्यम्—पुरा त्रिपुरविजयसमये रुद्राय रुद्रस्य। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। महादेवस्य धनुः चापम् आ तनोमि। ज्यया ततं करोमि। किमर्थम्। ब्रह्मद्विषे ब्राह्मणानां द्वेष्टारं शरवे शरुं हिंसकं त्रिपुरनिवासिनमसुरं हन्तवै हन्तुं हिंसितुम्। 'हन्तेः तुमर्थे सेसेन्……' (पा० ३।४।९) इति तवै प्रत्ययः। 'अन्तश्च तवै युगपत्' (पा० ६।१।२००) इत्याद्यन्तयोर्युगपदुदात्तत्वम्। 'शॄ हिंसायाम्' इत्यस्मात् 'शॄस्वृस्निहि…' (उ० १।१०) इत्यादिना उप्रत्ययः। 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्' इति कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। उ शब्दः पूरकः। अहमेव समदम्। समानं माद्यन्त्यस्मिन्निति समत् सङ्ग्रामः। स्तोतृजनार्थं शत्रुभिः सह सङ्ग्राममहमेव कृणोमि करोमि। तथा द्यावापृथिवी दिवं च पृथिवीं चान्तर्यामितया अहम् आ विवेश प्रविष्टवती ॥ ६ ॥

हिन्दी—ब्रह्म विद्वेषी [ब्रह्मद्विषे] हिंसक को [शरवे] मारने के निमित्त [हन्तवै] मैं [अहम्] निश्चय ही [उ] रुद्र के लिए [रुद्राय] धनुष को [धनुः] तान देती (अर्थात् चढ़ा देती) हूँ [आ तनोमि], मैं [अहम्] मनुष्यों के लिए [जनाय] युद्ध [समदम्] करती हूँ [कृणोमि], मैं [अहम्] द्युलोक और पृथ्वी-लोक में [द्यावापृथिवी] समाई हुई हूँ [आ विवेश] ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ—१. **रुद्राय**—सा०-षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी मानकर इसका अर्थ 'महादेव का' करते हैं। दा० सा०-वीरभद्र। 'रुद्र' से रुद्र का ही ग्रहण करना चाहिये, जो कि एक भयङ्कर वैदिक देवता है। इसका पौराणिक शिव या महादेव से एकीकरण कथमपि उचित नहीं है। पुराणवर्णित शिव का प्रमुख अस्त्र त्रिशूल है, वैदिक रुद्र का धनुष्-बाण (दे०—ऋग्० २।३३।१०)। दूसरे यहाँ चतुर्थी मानना ही न्यायोचित है, क्योंकि इस प्रकार यह भाव प्राप्त हो रहा है कि—'रुद्र में जो धनुष् को तानने का सामर्थ्य है, वह मेरे ही कारण है।'

२. **ब्रह्मद्विषे**—सा०-ब्राह्मणों से द्वेष करने वाला। दा० सा०-ज्ञान-विद्वेषी। पीट०-ईश्वर से द्वेष करने वाले। 'ब्रह्म' का या तो 'ब्रह्म' ही अर्थ करना चाहिये या 'वेद-मन्त्र'। इसका अर्थ 'ब्राह्मण' करना उचित नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद के समय ब्राह्मणों को वह प्रतिष्ठा नहीं मिल पायी थी, जो आगे चल कर उन्हें मिली। तुल०-'यस्य ब्रह्म वर्धनं' (ऋग्० २।१२।१४)। ब्रह्म + √द्विष् + क्विप् प्रत्यय, चतुर्थी, एक व०।

३. **शरवे**—सा०-त्रिपुर निवासी हिंसक असुर को। दा० सा०-हिंसक शत्रु। पीट०-बाण। शरवे = √शृ (= हिंसा करना) + उ प्रत्यय (दे०—उ० १।१०), चतुर्थी, एक व०। अनुवर्ती पौराणिक कथा की ओर संकेत करने वाला सायणीय अर्थ यहाँ मान्य नहीं हो सकता। सा० स्वयं अन्यत्र इसका अर्थ 'वज्र' करते हैं (दे०—ऋग्० २।१२।१० पर उनका भाष्य)। जो भी हिंसा करे उसे 'शरु' कहा जा सकता है। इससे यहाँ 'प्रजोत्पीड़क व्यक्ति' का ग्रहण किया जा सकता है, जो कि कौटिल्य के मतानुसार दण्डनीय हैं।

४. **हन्तवै**—√हन् (=मारना) + तवैन् (जिसका प्रयोग वेद में तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में होता है)। लोक में इसका रूप 'हन्तुम्' बनेगा।

५. **समदम्**—समत् (= युद्ध) का द्वितीया, एक वचन।

६. **कृणोमि**—√कृ (= करना) + उत्तम पु०, एक व०। 'करोमि' का वैदिक रूप।

विशेष—'ब्रह्मद्विषं शरुं हन्तुं' के स्थान पर यहाँ वेदानुमोदित चतुर्थ्यन्त 'ब्रह्मद्विषे शरवे—'प्रयोग सर्वथा दर्शनीय है।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७ ॥

पदपाठ—अहम् । सुवे । पितरम् । अस्य । मूर्धन् । मम । योनिः । अप्ऽसु । अन्तरिति । समुद्रे । ततः । वि । तिष्ठे । भुवना । अनु । विश्वा । उत । अमूम् । द्याम् । वर्ष्मणा । उप । स्पृशामि ॥ ७ ॥

सायणभाष्यम्—"द्यौः पिता" (तै० ३।७।५।४) इति श्रुतेः पिता द्यौः । पितरं दिवम् अहं सुवे प्रसुवे जनयामि । 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० आ० ८।१) इति श्रुतेः । कुत्रेति तदाह । अस्य परमात्मनः मूर्धन् मूर्धन्युपरि । कारणभूते । तस्मिन् हि वियदादि कार्यजातं सर्वं वर्तते तन्तुषु पट इव । मम च योनिः कारणं समुद्रे । समुद्द्रवन्त्यस्माद् भूतजातानीति समुद्रः परमात्मा तस्मिन् । अप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिषु अन्तः मध्ये यद् ब्रह्म चैतन्यं तन्मम कारणमित्यर्थः । यत ईदृग्भूताहमस्मि ततः हेतोः विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि अनु प्रविश्य वि तिष्ठे । विविधं व्याप्य तिष्ठामि । 'समवप्रविभ्यः स्थः' (पा० १।३।२२) इत्यात्मनेपदम् । उत अपि च अमूं द्यां विप्रकृष्टदेशेऽवस्थितं स्वर्गलोकम् । उपलक्षणमेतत् । एतदुपलक्षितं कृत्स्नं विकारजातं वर्ष्मणा कारणभूतेन मायात्मकेन मदीयेन देहेन उप स्पृशामि । यद्वा—अस्य भूतस्य भूलोकस्य[1] मूर्धन् मूर्धन्युपर्यहं पितरमाकाशं सुवे । समुद्रे जलधावप्सूदकेष्वन्तर्मध्ये मम योनिः कारणभूतोऽम्भृणाख्य ऋषिर्वर्तते । यद्वा—समुद्रेऽन्तरिक्षेऽप्स्वम्मयेषु देवशरीरेषु मम कारणभूतं ब्रह्मचैतन्यं वर्तते । ततोऽहं कारणात्मिका सती सर्वाणि भुवनानि व्याप्नोमि । अन्यत् समानम् ॥७॥

हिन्दी—मैं [अहम्] इस (भूलोक) के [अस्य] शीर्ष के ऊपर [मूर्धन्] (पितृवत् रक्षा-कारक) द्युलोक को [पितरम्] उत्पन्न करती हूँ [सुवे], मेरी [मम] उत्पादक शक्ति [योनिः] समुद्र में स्थित (अर्थात् अति विस्तृत) [समुद्रे] जलों में (है) [अप्सु अन्तः], उस (जलराशि) से उत्पन्न होने के पश्चात् [ततः अनु] (मैं) सम्पूर्ण [विश्वा] लोकों में [भुवना] विविध रूप में व्याप्त हो जाती हूँ [वि तिष्ठे], तथा [उत] इस दृश्यमान [अमूम्] द्युलोक को [द्याम्] (अपने विराट् रूप) शरीर से [वर्ष्मणा] आच्छादित करने लगती हूँ [उपस्पृशामि] ॥ ७ ॥

टिप्पणियाँ—१. **पितरम्**—द्युलोक को । "द्यौः पिता" (तै० ३।७।५।४)। सा०—(क) दिवस्थान = द्युलोक (ख) आकाश । पीट० आदि पाश्चात्य विद्वान् आकाश अर्थ ही स्वीकारते हैं । आकाश का शब्दमय होना

---

१. अन्यत्र 'भूमस्य भूलोकस्य' स्थाने 'भूतस्य' मात्रा उपलभ्यते ।

पर्याप्त प्रसिद्ध है। शब्द रूप ब्रह्म ही सबका उत्पादक और परिपालक होने से शब्द-प्रधान आकाश का सर्व जीवलोकादि का पितृत्व सिद्ध हो जाता है। द्युलोक के पक्ष में यह समझना चाहिये कि वह सोमादिक ज्योति-पिण्डों का आधार है। सर्वविध जीवन प्रकाश पर निर्भर होने से सोम को प्राण कहा जाता है। एवंविध प्राणों का कारण होने से द्युलोक का भी समस्त ब्रह्माण्ड का पिता (= रक्षक, परिपालक) होना सिद्ध हो जाता है।

२. **अस्य मूर्धन्**—सा०—(क) इस परमात्मा के शीर्ष के ऊपर। (ख) इस भूलोक के शीर्ष के ऊपर। पीट०—सम्पूर्ण विश्व के ऊपर। दा० सा०—राष्ट्र के ऊपर। मूर्धन् = सप्तमी वि०, एक व०, 'मूर्धनि' का वैदिक रूप।

३. **योनि**:—सा०—(क) कारण अर्थात् उत्पादक (ख) कारणभूत अम्भृण नामक ऋषि (ग) कारणभूत ब्रह्मचैतन्य। पीट०—बैठने का स्थान। सृष्टि की कामना से जब ब्रह्म अप्रकेत सलिल (= आपस्) में अपने रेतस् का उपस्थापन करता है, तब सृष्टि उत्पन्न होती है। उक्त ब्रह्म-रेतस् को ही यहाँ 'वाक्' की योनि कहा गया है। इसकी चरितार्थता अग्रिम पदों 'अप्सु अन्तः' से सम्यक् रूपेण हो जाती है।

४. **अप्सु अन्तः समुद्रे**—सा०—(क) जिससे सम्पूर्ण प्राणी समुद्रवित (= उत्पन्न) होते हैं, इस परमात्मा में [= समुद्रे] तथा—व्यापनशील धीवृत्तियों (= बुद्धिव्यापारों अर्थात् तज्जन्य क्रिया-कलाप) के मध्य में [= अप्सु अन्तः] (मेरा कारणभूत ब्रह्मचैतन्य स्थित है)। (ख) समुद्र में स्थित जलों के मध्य में (मेरा कारणभूत अम्भृण नामक ऋषि विद्यमान है)। (ग) अन्तरिक्ष में [= समुद्रे] स्थित जलरूप धारी देवशरीरों [= अप्सु] के मध्य में [= अन्तः] (मेरा कारणभूत ब्रह्मचैतन्य विद्यमान है)। पीट०—समुद्र में स्थित जलों में।

५. **ततः अनु**—सा० 'ततः' को हेतुवाचक मान कर 'अनु' का अर्थ 'अनुप्रविश्य' करते हैं। उनके अनुसार—इस लिये [= ततः] सभी लोकों में [= विश्वा भुवना] प्रवेश करके [= अनु]। पीट०—उसके बाद। प्रकरणान्तर होने पर भी हमें पीट० का यह शब्दार्थ मान्य है।

६. **वितिष्ठे**—वि + √स्था + लट्, उ० पु०, एक व०। विविध रूप से स्थित हूँ। सा० पीट० आदि सभी इसे मानते हैं।

७. **विश्वा भुवना**—'विश्वानि भुवनानि' (= सभी लोक) के वैदिक रूप।

८. वर्ष्मणा—सा०—कारणभूत मायात्मक स्वकीय शरीर से। पीट०—अपने सिर से। दा० सा०—अपने शरीर से।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ८ ॥

पदपाठ—अहम्। एव। वातःऽइव। प्र। वामि। आऽरभमाणा। भुवनानि। विश्वा। परः। दिवा। परः। एना। पृथिव्या। एतावती। महिना। सम्। बभूव ॥ ८ ॥

सायणभाष्यम्—विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि कार्याणि आरभमाणा कारणरूपेणोत्पादयन्ती अहमेव परेणानधिष्ठिता स्वयमेव प्रवामि प्रवर्ते। वात इव। यथा वातः परेणाप्रेरितः सन् स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वत्। उक्तं सर्वं निगमयति। परो दिवा। पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते यथा अध इति अधस्तादित्यर्थे। तद्योगे च तृतीया सर्वत्र दृश्यते। दिवा आकाशस्य परस्तात्। एना पृथिव्या। 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (पा० २।४।३४) इतीदम एनादेशः। सुपां सुलुगिति तृतीयाया अजादेशः। अस्याः पृथिव्याः परः परस्तात्। द्यावापृथिव्योरुपादानमुपलक्षणम्। एतदुपलक्षितात् सर्वस्माद् विकारजातात् परस्ताद् वर्तमानासङ्गोदासीनकूटस्थब्रह्मचैतन्यरूपाहं महिना महिम्ना एतावती सं बभूव। एतच्छब्देनोक्तं सर्वं परामृश्यते। एतत् परिमाणमस्याः। 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे...'(पा० ५।२।३९) इति वतुप्। 'आ सर्वनाम्नः' (पा० ६।३।९१) इत्यात्वम्। सर्वजगदात्मनाहं सम्भूतास्मि। महच्छब्दादिमनिचि 'टेः' (पा० ६।४।१५५) इति टिलोपः। ततस्तृतीयायामुदात्तनिवृत्तिस्वरेण तस्या उदात्तत्वम् (पा० ६।१।१६८)। छान्दसो मलोपः ॥ ८ ॥

हिन्दी—सम्पूर्ण [विश्वा] लोकों को [भुवनानि] गतिशील बनाती हुई [आरभमाणा] मैं [अहम्] ही [एव] वायु के समान (निर्बाध गति से एवं स्वेच्छा से) [वात इव] प्रवर्तित होती हूँ [प्र वामि]। (मैं) द्युलोक से [दिवा] परे [परो] (तथा) इस [एना] पृथिवीलोक से (भी) [पृथिव्या] परे [परः] (हूँ)। (मैं अपनी) महिमा से [महिना] इतनी (विशाल) [एतावती] हो गई हूँ [सं बभूव] ॥ ८ ॥

टिप्पणियाँ—१. प्रवामि—सा०—प्रवर्तित होती हूँ। दा० सा०—(सब को) स्फुरण देती हूँ।

२. आरभमाणा—सा०—कारण रूप बनकर उत्पन्न करती हुई। पीट०—

(सबको) वशीभूत करती हुई। दा० सा०—सब भुवनों अथवा मानवी संस्थाओं का निर्माण करके। यद्यपि सा० का अर्थ उचित ही है, किन्तु पूर्व मन्त्रों में सृष्टि-रचना का प्रसङ्ग आ जाने से यहाँ सृष्ट पदार्थों को गति प्रदान कर उनका सञ्चालित किया जाना ही अधिक प्रकरणोपयुक्त है।

३. **परः**—यह सकारान्त अव्यय है और 'परस्ताद्' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसके योग में सदा तृतीया वि० का प्रयोग होता है।

४. **एना**—इदम् का षष्ठ्यन्त वैदिक रूप। डॉ० सुधीरकुमार गुप्त इस 'एना' के प्रयोग से तृतीय लोक 'अन्तरिक्ष' की सम्भावना की ओर संकेत करते हैं। किन्तु हमें इस सम्भावना का कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता। द्युलोक और पृथ्वी लोक से दैवी और मानवी उभयविध सृष्टि का उल्लेख हो ही गया है।

'परो दिवा पर एना पृथिव्या' के लिये तुल०—'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्' (ऋग्० १०।९०।१); '–अतो ज्यायाँश्च पूरुषः' (वही १०।९०।३)।

५. **महिना**—महिमन् + तृतीया, एक व०। 'महिम्ना' का वैदिक रूप। तुल०—'यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्' (ऋग्० १०।१२१।८)।

पृथिवी सूक्तम्

(अथर्व १२।१)

विशेष—१. पाठ्यक्रमानुसार यहाँ केवल १२ मन्त्रों की व्याख्या की जा रही है।

२. शौनकीय अथर्ववेद संहिता के द्वादश काण्डान्तर्गत इस सूक्त में सायणीय भाष्य सर्वथा अप्राप्त है, इसलिए उसे यहाँ नहीं दिया जा सका।

[१] सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥ १ ॥

पदपाठ—सत्यम्। बृहत्। ऋतम्। उग्रम्। दीक्षा। तपः। ब्रह्म। यज्ञः। पृथिवीम्। धारयन्ति। सा नः। भूतस्य। भव्यस्य। पत्नी। उरुम्। लोकम्। पृथिवी नः। कृणोतु ॥ १ ॥

हिन्दी—सत्य [सत्यम्], महनीयता [बृहत्], ऋत [ऋतम्], उग्रता [उग्रम्], दीक्षा [दीक्षा], तप [तपः], ब्रह्म [ब्रह्म] (और) यज्ञ [यज्ञः] पृथिवी को [पृथिवीम्] धारण करते हैं [धारयन्ति]। भूत [भूतस्य] (और) भविष्य की [भव्यस्य] पत्नी [पत्नी] वह [सा] हमारी [नः] पृथिवी [पृथिवी] हमारे [नः] लोक को [लोकम्] विस्तृत (अथवा) महिमा-युक्त [उरुम्] बना दे [कृणोतु] ॥ १ ॥

टिप्पणियाँ—१. **बृहत्**—इसका अर्थ 'महत्' होता है (दे०–निरुक्त ३।३।४)। यहाँ यह 'महानता' के अर्थ में प्रयुक्त है। ब्लूम० का भी यही मत है। ह्विटने महोदय 'बृहत् सत्यम्' को एक साथ लेकर उसका अर्थ 'महान् सत्य' करते हैं।

२. **ऋतम्**—√ऋ (जाना) + क्त। इसका अर्थ 'सृष्टिसंचालक नियम' होता है। इसमें अवश्यंभाव्यत्व का गुण विद्यमान होने से इसे 'कर्म-फल' का भी वाची मानते हैं। तुल०—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके—' (कठो० १।३।१)। आज-कल यह 'सत्य' का पर्यायवाची बन गया है।

३. **उग्रम्**—'उग्रता' के अर्थ में इसका यहाँ प्रयोग हुआ है। ब्लूम०—बल। ह्विटने—उग्रम् ऋतम् = प्रबल सत्य।

४. दीक्षा—पवित्र और उच्च जीवन-यापन के लिये अपेक्षित यम-नियमादि के स्वीकरण को ही 'दीक्षा' कहते हैं। 'श्रेष्ठां धियं क्षियतीति दीक्षितः'। इस प्रकार 'श्रेष्ठ और उत्तम बुद्धि के धारण को 'दीक्षा' कहा जायगा।

५. तपः—ब्लूम०—सन्तानोत्पादेच्छा-जनित उत्ताप। ह्विटने—तपस्या।

६. ब्रह्म—केनो० १–५ के अनुसार—'यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि······' अर्थात् वह तत्त्व जिसका वर्णन वाणी न कर सके। किन्तु जो स्वयं वाक् (=वाणी) की अभिव्यक्ति करे। हमारे मत से यहाँ 'ब्रह्म' पद का प्रयोग 'प्रार्थना' के अर्थ में हुआ है। दे०—'यस्य ब्रह्म वर्धनं' (ऋग्० २।१२।१४) पर सायण का भाष्य—ब्रह्म = परिवृढं स्तोत्रं।

७. यज्ञः—यज्ञ 'कर्म' का वाची है; वह धार्मिक अनुष्ठान के रूप में किया जाय, या किसी अन्य रूप में।

८. भूतस्य भव्यस्य पत्नी—पृथ्वी को भूत और भव्य (=भविष्य काल) की पत्नी कहा जाना यह प्रकट करता है कि उसके वर्तमान रूप के अतिरिक्त उसका अतीत काल में भी अस्तित्व था और अनागत काल में भी रहेगा। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' (ऋग्० १०।९।२) को दृष्टिपथ में रख कर 'भूत और भव्य' स्वरूप 'पुरुष' को पृथिवी का पति माना जा सकता है।

[२] असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥

पदपाठ—असम्ऽबाधम्। मध्यतः। मानवानाम्। यस्याः।
उत्ऽवतः। प्रऽवतः। समम्। बहु। नानाऽवीर्याः।
ओषधीः। या। बिभर्ति। पृथिवी। नः। प्रथताम्।
राध्यताम्। नः॥ २॥

हिन्दी—मनुष्यों के [मानवानाम्] बीच में [मध्यतः] जिसके [यस्याः] बहुत से [बहु] बाधा-रहित [असंबाधम्] ऊँचे [उद्वतः], नीचे [प्रवतः] (और) समतल [समम्] (स्थान हैं), जो [या] विविध वीर्यों (= शक्तियों) वाली [नानावीर्याः] ओषधियों को [ओषधीः] धारण करती है [बिभर्ति], (वह) पृथिवी [पृथिवी] हमारे लिये [नः] विस्तृत हो [प्रथताम्] (और) हमारे लिए [नः] समृद्ध बने [राध्यताम्]॥ २॥

टिप्पणियाँ—१. **मानवानां मध्यतः**—अर्थात् मनुष्यों से घिरी हुई। मनोरयं मानवः तेषां मानवानां मध्यतः मध्ये। मनु + अण् (अपत्यार्थे) = मानवः। मध्य + तसिल् = मध्यतः।

२. **उद्वतः प्रवतः**—ऊँचे और नीचे (स्थान)। उत् + √वन् (= शब्द करना, आदर करना, विभक्त करना) + क्विप्, बहु व० = उद्वतः। प्र + √वन् + क्विप्, बहु व० = प्रवतः।

३. **ओषधीः**—इसका अर्थ विविध वनस्पतियाँ भी हैं और जड़ी-बूटियाँ भी। प्रसिद्धं औषधं ओषधिः, ताः। ओष + √धे (= पीना) + कि प्रत्यय = ओषधिः। ओषः दोषः तापो वा धीयते पीयते विनश्यते अत्र अनेन वा इति ओषधिः। द्वितीया, बहु व०।

४. **प्रथताम्, राध्यताम्**—√प्रथ् (=विस्तृत होना) + लोट्, मध्यम पु०, एक व०। √राध् (= बढ़ना, समृद्ध होना) + लोट्, मध्यम पु०, एक व०।

[३] यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥

पदपाठ—**यस्याम्। समुद्रः। उत। सिन्धुः। आपः। यस्याम्। अन्नम्। कृष्टयः। सम्ऽबभूवुः। यस्याम्। इदम्। जिन्वति। प्राणत्। एजत्। सा नः। भूमिः। पूर्वऽपेये। दधातु ॥ ३ ॥**

हिन्दी—जिसमें [यस्याम्] समुद्र [समुद्रः], नदियाँ [सिन्धुः] तथा [उत] जल [आपः] (स्थित हैं), जिसमें [यस्याम्] अन्न [अन्नम्] (और) कृषक जन [कृष्टयः] भली भाँति पाये जाते हैं [संबभूवुः], जिसमें [यस्याम्] यह [इदम्] श्वास लेने वाला [प्राणत्] (और) गतिशील [एजत्] (जगत्) आनन्दपूर्वक रहता है [जिन्वति], वह [सा] पृथ्वी [भूमिः] हमें [नः] पहले की सी परम्परा में [पूर्वपूये] स्थित कर दे [दधातु] ॥ ३ ॥

टिप्पणियाँ—१. **कृष्टयः**—कृषक लोग। निरुक्तकार 'कृष्टयः' का अर्थ 'कर्म-निरत मनुष्य' करते हैं। दे०—'कृष्टय इति मनुष्य नाम कर्मवन्तो भवन्ति' (निरु० १०।२)। √कृष् (= जोतना) + क्त = कृष्टम् (= जोताई), तद्

अस्य इति कृष्टिः (= कृष्+क्तिच्), ते कृष्टयः। ब्लूम०—मानवी जातियाँ। ह्विटने—कृषि कर्म।

२. **प्राणदेजत्**—प्राणत्+एजत् = प्राण धारण करता हुआ और गति करता हुआ (अर्थात् चेतन जगत्)। √प्राण् (नाम धातु) + शतृ = प्राणत् (= श्वास लेने वाला)। √एज् (=काँपना)+शतृ=एजत् (= गतिशील)।

३. **जिन्वति**—√जिन्व् (प्रीणने)+लट्, अन्य पु०, एक व०। प्रसन्न होता है।

४. **भूमिः**—भवति इति भूमिः। अथवा—भवन्ति अस्यां भावाः इति भूमिः।

५. **पूर्वपेये**—पूर्वं च यद् पेयं, तस्मिन्। अथवा—पूर्वेषां पूर्वजानां यत् पेयं, तस्मिन्। यहाँ 'पेय' का लाक्षणिक अर्थ 'परम्परा' ग्राह्य है। 'पूर्वपेये दधातु' का आशय यह है कि जिस प्रकार हमारे पूर्वज कर्मनिष्ठ थे और सुख-समृद्धि युक्त थे, वैसे ही हम भी बन जायँ।

६. **दधातु**—√धा + लोट्, अन्य पु०, एक व०।

[४] यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥

पदपाठ—**यस्याः। चतस्रः। प्रऽदिशः। पृथिव्याः। यस्याम्। अन्नम्। कृष्टयः। सम्ऽबभूवुः। या। बिभर्ति। बहुऽधा। प्राणत्। एजत्। सा। नः। भूमिः। गोषु। अपि। अन्ने। दधातु ॥ ४ ॥**

हिन्दी—जिस पृथिवी की [यस्याः पृथिव्याः] चार [चतस्रः] प्रमुख दिशाएँ [प्रदिशः] (हैं), जिसमें [यस्याम्] अन्न [अन्नम्] (और) कृषक जन [कृष्टयः] भली भाँति पाये जाते हैं [संबभूवुः], जो [या] प्राण धारण करने वाले [प्राणत्] (और) गतिशील (जगत्) को [एजत्] अनेकशः [बहुधा] धारण करती है [बिभर्ति], वह [सा] पृथिवी [भूमिः] हमें [नः] गौओं [गोषु] और [अपि (च)] अन्न में [अन्ने] प्रतिष्ठित करे [दधातु] ॥ ४ ॥

टिप्पणियाँ—१. **गोषु**—'गो' शब्द का प्रयोग यहाँ लाक्षणिक है। वह सर्वविध उपयोगी पशुओं का वाचक है। वैसे 'गो' के अनेक अर्थ हुआ करते हैं, जैसे—वाक्, दिशाएँ, भूमि, किरणें, वज्र, पशु, नेत्र, स्वर्ग, अश्व आदि।

२. **बिभर्ति**—√भृ (= धारण करना)+लट्, अन्य पु०, एक व०।

[५] यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥५॥

पदपाठ—यस्याम् । पूर्वे । पूर्वऽजनाः । विऽचक्रिरे । यस्याम् । देवाः । असुरान् । अभिऽअवर्तयन् । गवाम् । अश्वानाम् । वयसः । च । विऽस्था । भगम् । वर्चः । पृथिवी । नः । दधातु ॥ ५ ॥

हिन्दी—जिस पर [यस्याम्] (हमारे) प्राचीन [पूर्वे] पूर्वजों ने [पूर्वजना] (पराक्रम पूर्ण) कर्म किये [विचक्रिरे], जिसपर [यस्याम्] देवताओं ने [देवाः] असुरों को [असुरान्] अभियोग पूर्वक (=आक्रमण पूर्वक) भगा दिया [अभि + अवर्तयन्], (वह) पृथिवी [पृथिवी] हमें [नः] गौओं [गवाम्], अश्वों [अश्वानाम्] और [च] पक्षियों की [वयसः] प्रतिष्ठा (अर्थात् प्रचुरता) [विष्ठा] (तथा) ऐश्वर्य [भगम्] (और) तेजस्विता [वर्चः] प्रदान करे [दधातु] ॥ ५ ॥

टिप्पणियाँ—१. **पूर्वे**+प्रथमा वि०, बहु व० । पूर्ववर्ती अर्थात् प्राचीन काल के ।

२. **विचक्रिरे**—वि + √कृ (=करना) + लिट् , अन्य पु०, बहु व० ।

३. **अभ्यवर्तयन्**—अभि + √वृ + णिच् + लङ् , अन्य पु०, बहु व० ।

४. **विष्ठा**—वि + √स्था + क । विशेष स्थान, अर्थात् प्रतिष्ठा, गौरव । आशय यह है कि पृथिवी हमें गो, अश्व और वि (=पक्षी) सम्बन्धी प्रतिष्ठा प्रदान करे ।

[६] यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः ।
यस्यां हृदयं परमे व्योऽमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः ।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

पदपाठ—या । अर्णवे । अधि । सलिलम् । अग्रे । आसीत् । याम् । मायाभिः । अनुऽअचरन् । मनीषिणः । यस्याः । हृदयम् । परमे । विऽओमन् । सत्येन । आऽवृतम् । अमृतम् पृथिव्याः । सा नः । भूमिः । त्विषिम् बलम् । राष्ट्रे । दधातु । उत्ऽतमे ॥ ८ ॥

हिन्दी—जो (पृथिवी) [या] पहले [अग्रे] समुद्र में [अर्णवे] जल के अन्दर [सलिलम् अधि] थी [आसीत्], जिसे [याम्] मनीषियों ने [मनीषिणः] (अपने) बुद्धि-विक्रम से [मायाभिः] प्राप्त किया [अन्वचरन्], जिस पृथ्वी का [यस्याः पृथिव्याः] सत्य-समावृत [सत्येन आवृतम्] (और) विनाश-रहित [अमृतम्] हृदय [हृदयम्] परम व्योम में [परमे-विऽओमन्] (स्थित है), वह [सा] पृथिवी [भूमिः] हमें [नः] बल [बलम्] (और) तेज [त्विषिम्] प्रदान करे [दधातु] (तथा हमें) उत्तम राष्ट्र में [उत्तमे राष्ट्रे] प्रतिष्ठित करे [दधातु] ॥ ८ ॥

टिप्पणियाँ—१. **यार्णवेधि**—या + अर्णवे + अधि । अर्णांसि जलानि सन्ति अत्र इति अर्णवः, तस्मिन् अर्णवे ।

२. **मायाभिः**—'माया' से यहाँ 'बुद्धिजन्य युक्तियों' से प्रयोजन है ।

३. **अन्वचरन्**—अनु + अचरन् = अनु + √चर् + लङ्, अन्य पु०, बहु व० । पहुंचे, ढूँढ लिया, प्राप्त कर लिया । तुल०—'स वराहो रूपं-कृत्वोपन्यमज्जत् , स पृथिवीमध आर्च्छत् तस्या उपहत्योदमज्जत्—(तै० ब्रा० १।१।२।६) ।

४. **व्योमन्** = √वे (= ढकलेना) + मनिन् । वीयते आच्छाद्यते घनैः यत् तद् व्योमन् । यहाँ इसका प्रयोग सप्तमी के अर्थ में हुआ है ।

५. **त्विषिम्**—त्विट् + द्वितीया, एक व० = त्विषम् का वैदिक रूप ।

[७] यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥

पदपाठ—**यस्याम् । आपः । परिऽचराः । समानीः । अहोरात्रे इति । अप्रऽमदम् । क्षरन्ति सा । नः । भूमिः । भूरिऽधारा । पयः । दुहाम् । अथो इति । उक्षतु । वर्चसा ।९।**

हिन्दी—जिस (पृथिवी) पर [यस्याम्] चारों ओर संचरणशील [परिचराः] जल [आपः] समान भाव से [समानीः] रातदिन [अहोरात्रे] निर्बाध [अप्रमादम्] प्रवाहित हुआ करते हैं [क्षरन्ति], अनेक धाराओं से युक्त [भूरिधारा] वह पृथिवी [सा भूमिः] हमें [नः] जल [पयः] प्रदान करे [दुहाम्] तथा [अथो] (हमें) तेजस्विता से [वर्चसा] संपृक्त कर दे [उक्षतु] ॥ ९ ॥

टिप्पणियाँ—१. **अप्रमादम्**—प्रमाद (= आलस्य) से रहित होकर, अर्थात् निरन्तर बिना रुके ।

२. क्षरन्ति—इससे झरते रहते हैं। अर्थ ग्रहण करने पर जल-प्रपातों का अस्तित्व साकार हो उठता है। वैसे इसे सामान्यतः बहने के अर्थ में लिया जा सकता है।

३. दुहाम्—√दुह् + लोट्। दुह दे अर्थात् प्रदान करे। 'पयः' का अर्थ 'दुग्ध' गृहण करने पर ही प्रस्तुत 'दुहाम्' पद और अग्रिम 'वर्चसा उक्षतु' की पूर्णत संगति बैठती है।

४. उक्षतु—√उक्ष् (= सींचना, गीला करना) + लोट्, अन्य पु०, एक व०।

[८] यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

पदपाठ—याम् । अश्विना । अभिमाताम् । विष्णुः । यस्याम् ।
विऽचक्रमे । इन्द्रः । याम् । चक्रे । आत्मने । अनमित्राम् ।
शचीऽपतिः । सा । नः । भूमिः । वि । सृजताम् ।
माता । पुत्राय । मे । पयः ॥ १० ॥

हिन्दी—जिस (पृथिवी) को [याम्] अश्विनीकुमारों ने [अश्विनौ] नापा है [अभिमाताम्], जिस पर [यस्याम्] विष्णु ने [विष्णुः] (अपना दूसरा) पद-संचार किया है [विचक्रमे], जिसे [याम्] शची-पति [शचीपतिः] इन्द्र ने [इन्द्रः] अपने हित के लिये [आत्मने] शत्रु-विहीन [अनमित्राम्] बना दिया है [चक्रे], वह [सा] हमारी [नः] माता तुल्य भूमि [माता भूमिः] (अपने) पुत्रस्वरूप मुझे [पुत्राय मे] (अपना) दूध [पयः] प्रदान करे [विसृजताम्] ॥ १० ॥

टिप्पणियाँ १. अश्विनौ—ये युग्म-देवता हैं, जिन्हें कुछ लोग दिन और रात्रि का, कुछ सूर्य और चन्द्र का, कुछ द्युलोक और पृथ्वी का तथा कुछ लोग युगल संधि-कालों (= प्रात और सायं) का वाची मानते हैं।

२. अभिमाताम्—अभि + √मा (= नापना, तौलना) + लङ्, अन्य पु०, द्वि० व०। अभि + अमाताम् = अभ्यमाताम् का वैदिक प्रयोग।

३. विचक्रमे—वि+√क्रम् (=चलना, पैर रखना) + लिट्, अन्य पु०, एक व०।

४. चक्रे—√कृ (=करना)+लिट्, अन्य पु०, एक व०।

५. **अनमित्राम्**—मित्रैः सुहृद्भिः सार्धं विद्यते इति तां समित्राम्, न तादृशी इति तां अमित्राम्, अमित्रैः शत्रुभिः रहिता इति ताम् अनमित्राम् ।

६. **शचीपतिः**—इन्द्र की पत्नी का नाम शची है। वैसे निरुक्त के अनुसार 'शची' पद कर्म का वाचक है। 'शची' पद शक्ति और सामर्थ्य के अर्थ में भी ऋग्वेद में अनेकधा प्रयुक्त हुआ है। अतएव इन गुणों के अधिपति को इन्द्र कहा जायगा।

[९] गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

पदपाठ—**गिरयः । ते । पर्वताः । हिमऽवन्तः । अरण्यम् । ते । पृथिवि । स्योनम् । अस्तु । बभ्रुम् । कृष्णाम् । रोहिणीम् । विश्वऽरूपाम् । ध्रुवाम् भूमिम् । पृथिवीम् । इन्द्रऽगुप्ताम् । अजीतः । अहतः । अक्षतः । अधि । अस्थाम् । पृथिवीम् । अहम् ॥ ११ ॥**

हिन्दी—हे पृथिवी ! [पृथिवि] तुम्हारी [ते] पहाड़ियाँ [गिरयः], हिमाच्छादित पर्वत [हिमवन्तः पर्वताः] (और) तुम्हारे [ते] वन [अरण्यम्] सुखकर (अथवा शुभ) [स्योनम्] बनें [अस्तु]। भूरि [बभ्रुम्], काली [कृष्णाम्], लाल [रोहिणीम्], विविध रूप वाली [विश्वरूपाम्], स्थिर [ध्रुवाम्] (और) इन्द्र द्वारा रक्षित [इन्द्रगुप्ताम्] भूमि वाली [भूमिम्] सुविस्तृत [पृथिवीम्] पृथिवी पर [पृथिवीम्] (मैं) अविजित [अजीतः], अहिंसित [अहतः] (और) अक्षत रह कर [अक्षतः (सन्)] अधिष्ठित हो जाऊँ [अध्यष्ठाम्] ॥ ११ ॥

टिप्पणियाँ—१. **अरण्यम्**—जाति अर्थ में 'अरण्यानि' के स्थान पर एक वचनान्त 'अरण्यम्' का प्रयोग हुआ है।

२. **स्योनम्**—सुन्दर, सुखकर, शुभ। दे०—आप्टे का शब्दकोश। यास्क के मत में भी 'स्योन' पद सुखवाचक है। दे०—नि० ३।६।१५

३. **बभ्रुं कृष्णां रोहिणीम्**—यहाँ पृथ्वी की भूरी, काली और लाल मिट्टी से सूक्तकार का प्रयोजन है।

४. **पृथिवीं पृथिवीम्**—विस्तारवती पृथ्वी। दे०—'पृथ् विस्तारे'। एक

'पृथिवी' पद का अर्थ 'विस्तृत' करना पड़ेगा, अन्यथा दो में से एक 'पृथिवी' पद निरर्थक हो जायगा।

'अधि' उपसर्गपूर्वक 'शी' (=सोना) और 'स्था' (=स्थित होना) धातुओं के योग में कर्म कारक (= द्वितीया विभक्ति) का प्रयोग होता है। इसीलिए **'अधिग्राम्'** के कारण 'पृथिवीम्' और उसके सभी विशेषण द्वितीयान्त हैं।

५. **अजीतः**—अ+√जि (=जीतना)+क्त। यह 'अजितः' के स्थान पर हुआ वैदिक प्रयोग है।

६. **अहतः, अक्षतः**—अ (नञ्)+√हन्+क्त=अहतः; अ (नञ्)+√क्षण+क्त=अक्षतः।

७. **अध्यष्ठाम्**—अधि+√स्था+लुङ्, उत्तम पु०, एक व०। किन्तु इसका प्रयोग यहाँ भविष्यत् काल के अर्थ में हुआ है।

[१०] यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वऽः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

पदपाठ—यत्। ते। मध्यम्। पृथिवि। यत्। च। नभ्यम्।
याः। ते। ऊर्जः। तन्वः। सम्ऽबभूवुः। तासु। नः।
धेहि। अभि। नः। पवस्व। माता। भूमिः। पुत्रः।
अहम्। पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता। सः। ऊँ इति। नः।
पिपर्तु ॥ १२ ॥

हिन्दी—हे पृथिवी ! [पृथिवि] जो [यत] तुम्हारा [ते] मध्य-भाग [मध्यम्] (हो), जो [यत्] नाभि-भूत स्थान [नभ्यम्] (हो) तथा [च] जो [याः] तुम्हारे [ते] ऊर्जायुक्त [ऊर्जः] भाग [तन्वः] हों [संबभूवुः], उन (स्थानों) पर [तासु] हमें [नः] स्थापित करो [धेहि]; हमें [नः] सब ओर से पवित्र करो [अभिपवस्व]। भूमि [भूमिः] माँ (है) [माता]। मैं [अहम्] पृथिवी का [पृथिव्याः] पुत्र (हूँ) [पुत्रः]। पर्जन्य [पर्जन्यः] पिता (है) [पिता], वह [सः उ] हमारा [नः] पालन-पोषण करे [पिपर्तु] ॥ १२ ॥

टिप्पणियाँ—१. **मध्यम्**—मध्य का भाग सुरक्षित होता है, इसलिए पृथ्वी के मध्य भाग में रहने की यहाँ कामना की गई है।

२. **नभ्यम्**—नाभिस्थानीय अर्थात् वह भाग जो नाभि के स्थान पर हो। नाभि सभी शरीराङ्गों को बाँधे रहती है, इसलिए यहाँ ऐसे स्थान में निवास की कामना की गई है, जो सबसे सम्बद्ध एवं सबका पोषक हो।

३. **ऊर्जः तन्वः**—ऊर्जा (= बल, शक्ति) से युक्त भाग। यहाँ अभिप्राय उन स्थानों से है, जहाँ रह कर हमें शक्ति का लाभ हो।

ऊर्जः—ऊर्ज् (स्त्रीलिंग) का बहुवचन। इसका अर्थ भी 'शक्ति' है। यह 'ऊर्जः' (पु०) या 'ऊर्जस्' (नपुं०) का रूप नहीं है। इसे बहुवचनान्त मान कर ही इसके साथ पूर्व पद 'याः' (स्त्रीलिंगान्त, बहुवचन) की सङ्गति बैठ सकती है।

तन्वः—तनू (स्त्री०) का बहुवचन। 'वधू' शब्द के बहुवचनान्त 'बध्वः' के समान। इसका अर्थ शरीर होता है। इसका सम्बन्ध पूर्व-पद 'याः' से है। इस प्रकार 'याः ते ऊर्जः तन्वः संबभूवुः' का अर्थ है 'जो तुम्हारे शक्ति-समन्वित भाग हैं।'

४. **धेहि**—√धा (=धारण करना)+लोट्, मध्यम पु०, एक व०।

५. **अभि**—'उभयतः' वाची 'अभि' का प्रयोग यहाँ 'सर्वतः' के अर्थ में हुआ है।

६. **पवस्व**—√पू (=पवित्र करना)+लोट्, मध्यम पु०, एक व०।

७. **पिपर्तु**—√पॄ (पालन करना, पूरण करना, भरा-पूरा बना देना) + लोट्, अन्य पु०, एक व०।

[११] त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

पदपाठ—त्वत्। जाताः। त्वयि। चरन्ति। मर्त्याः। त्वम्। बिभर्षि। द्विऽपदः। त्वम्। चतुःऽपदः। तव। इमे। पृथिवि। पञ्च। मानवाः। येभ्यः। ज्योतिः। अमृतम्। मर्त्येभ्यः। उत्ऽयन्। सूर्यः। रश्मिऽभिः। आऽतनोति ॥

हिन्दी—तुमसे उत्पन्न हुए [त्वत् जाताः] प्राणी [मर्त्याः] तुम्हारे ऊपर (ही) [त्वयि] सञ्चरण किया करते हैं [चरन्ति], तुम [त्वम्] (मनुष्य आदि) दो पैर वालों [द्विपदः] (तथा) तुम (ही) [त्वम्] (गो-अश्व

आदि) चार पैर वालों को [चतुष्पदः] धारण करती हो [बिभर्षि]। हे पृथिवी ! [पृथिवि] ये [इमे] सभी [पञ्च] मनुष्य [मानवाः] तुम्हारे (ही हैं) [तव], जिनके लिए [येभ्यः] उदित होता हुआ [उद्यन्] सूर्य [सूर्यः] (अपनी) किरणों से [रश्मिभिः] अमृत तुल्य (अथवा अविनाशी) [अमृतम्] प्रकाश [ज्योतिः] का विस्तार करता है [आतनोति] ॥ १५ ॥

टिप्पणियाँ—१. मर्त्या—म्रियते अत्र इति मर्तः भूमिः, मर्ते भवाः इति मर्त्याः। मर्त + यत्, बहु व०। मरणशील मनुष्य तथा अन्य अनेक विध प्राणी।

२. **बिभर्षि**—√भृ (= धारण करना, पोषण करना) + लट्, मध्यम पु०, एक व०।

३. **पञ्च मानवाः**—सभी मनुष्य। जिस प्रकार ऋग्० २।१२।१० में हमने 'सप्त सिन्धून्' का अर्थ 'सभी नदियों को' स्वीकारा था, उसी प्रकार यहाँ भी 'पञ्च मानवाः' से 'सभी मनुष्य' का ग्रहण करना चाहिये। 'सप्त' की ही भांति 'पञ्च' भी आर्यों की प्रिय संख्या प्रतीत होती है। तुल०—'विश्वे देवा अदितिः पञ्च जनाः' (ऋग्० १।८९।१०)।

यहाँ 'पञ्च मानवाः' से यास्कसम्मत अर्थ 'देव, पितर, गन्धर्व, असुर और राक्षस' भी स्वीकारा जा सकता है, जिससे यह भाव झलकता है कि 'उत्तम, मध्यम और अधम आदि गुणों से युक्त सर्वविध मनुष्य'।

इसके अतिरिक्त यहाँ आर्यों की सर्वप्रसिद्ध 'यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु'—इन पाँच जातियों का ग्रहण भी किया जा सकता है। किन्तु सभी विवादों से परे 'सभी मनुष्य' अर्थ करना ही सर्वोत्तम है।

४. **उद्यन्**—उत्√इ (= जाना, आना) + शतृ (पुल्लिंग)।

५. **आतनोति**—आ + √तन् (= फैलाना) + लट्, अन्य पु०, एक व०।

[१२] जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

पदपाठ—जनम्। बिभ्रती। बहुऽधा। विऽवाचसम्। नानाऽधर्माणम्। पृथिवी। यथाऽओकसम्। सहस्रम्। धाराः। द्रविणस्य। मे। दुहाम्। ध्रुवाऽइव। धेनुः। अनपऽस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

हिन्दी—विविध बोली (अथवा भाषा) वाले [वि–वाचसम्], विभिन्न धर्म मानने वाले [नाना-धर्माणम्] (और) मनचाहे स्थान पर घर बना कर रहने वाले [यथा–ओकसम्] लोगों को [जनम्] अनेक प्रकार से [बहुधा] धारण करती हुई [बिभ्रती] पृथिवी [पृथिवी], (एक) स्थिर [ध्रुवा] (और) अचपल [अनपस्फुरन्ती] गाय के समान [धेनुः इव], मेरे लिये [मे] धन-वैभव की [द्रविणस्य] सहस्रों धारायें [सहस्रं धाराः] दुह दे [दुहाम्] ॥ ४५]

१. **बिभ्रती**—वि + √भृ (= धारण करना) + शतृ, स्त्रीलिंग ।

२. **विवाचसम्**—विविधा वाक्यस्य, तम् । 'जनं' का विशे० । यहाँ भी जाति अर्थ में एक वचन का प्रयोग हुआ है ।

३. **अनपस्फुरन्ती**—अन् (नञ् वाची) + अप् + √स्फुर् (=हिलना, चमकना) + शतृ, स्त्रीलिंग । भाव यह है कि 'जिस प्रकार दूध दुहे जाते समय इधर–उधर पैर न झिटकने वाली अर्थात् सीधी–सादी गाय आसानी से अपना दुग्ध–दान करती है, उसी प्रकार पृथिवी भी स्वेच्छा से हमें धन-सम्पत्ति प्रदान करे' ।

INDIAN INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 39945
Date 24.6.72